मूल्य २॥)

मुद्रक—देवकुमार मिश्र, हिन्दुस्तानी प्रेस, बाँकीपुर, पटना

# प्राक्कथन

'काव्यालोचन के सिद्धान्त' की रचना की प्रेरणा मुझे तब मिली, जब मैंने बी० ए० और बी० ए० ऑनर्स के विद्यार्थियों के अध्यापन के सिलसिले में किसी एक ऐसी पुस्तक का अभाव अनुभव किया, जो न केवल काव्यशास्त्र के विविध पहलुओं से हिन्दी के विद्यार्थियों का परिचय कराये वरन् काव्यालोचन के लिए सुनिश्चित व्यावहारिक मान-दंड भी प्रदान करे। संस्कृत के उत्तराधिकार और शताब्दियों से भारतीय मनीषियों की चिन्ता-धारा से समृद्ध हिन्दी-साहित्य-भांडार में यद्यपि ऐसे आलोचना-सिद्धान्तों की कमी नहीं, फिर भी आधुनिक युग के अनुकूल, व्यवस्थित ढंग से, किसी एक ही पुस्तक में उनका ऐसा विवेचन अब तक नहीं हुआ, जिससे विद्यार्थी व्यावहारिक रूप से लाभ उठा सकें। इस पुस्तक की रचना द्वारा मैं यह दावा तो नहीं करता कि मैंने उस अभाव को दूर कर दिया है, पर इस दिशा में हिन्दी के विद्यार्थियों की थोड़ी सहायता करने का और इस विषय के अधिकारी विद्वानों का इधर ध्यान आकृष्ट करने का एक छोटा-सा प्रयास अवश्य किया है।

इस पुस्तक की रचना में उपलब्ध ग्रंथों और अन्य सामग्रियों से यथासंभव सहायता ली गयी है और इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाठकों को अधिक से अधिक विचार-सामग्री मिल सके। इन सामग्रियों से आधार तत्त्व लेकर मैंने काव्य और उसके आलोचनात्मक मान-दंडों के संबंध में सर्वत्र स्वतंत्र रूप से अपना मत देने की और कहीं-कहीं मौलिक सिद्धान्त-निरूपन की चेष्टा की है। मेरे ये मत और सिद्धान्त कहीं भी भ्रामक नहीं होंगे, ऐसा मानने का दंभ मुझमें नहीं। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इन मतों और सिद्धान्तों के निर्णय में मैंने यथासम्भव सावधानी से काम लिया है। फिर भी, इस विषय के विद्वान् यदि मेरी भूलों के प्रति मुझे सचेत कर दें तो मैं उपकार मानूँगा। जिन विद्वानों की रचनाओं से मैंने सहायता ली है उनका आभार मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ।

हिन्दी-आलोचना के विकास के संबंध में मैंने जो हिन्दी के प्र
आलोचकों की चर्चा की है, उसमें उस समय तक मेरी दृष्टि में आने
प्रकाशित पुस्तकों को ही आधार माना गया है। अतः यदि किसी महत्त्व
ग्रंथ या आलोचक की चर्चा न हो सकी हो, तो इसका कारण मेरी उदासी
नहीं, अल्पज्ञता है।

मैं अपने पूज्य आचार्य डाक्टर ईश्वरदत्त और प्रोफेसर विश्वनाथ प्र
जी के प्रति, जिन्होंने पुस्तक की पांडुलिपि देखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया
सादर कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

मैंने शान्ति-निकेतन के तपस्वी विद्वान् पं० हजारी प्रसाद द्विवेद
प्रार्थना की थी कि वे भूमिका के रूप में पुस्तक के विवेच्य विषय पर प्र
डालकर मेरा और पाठकों का पथ-निर्देश करें। उन्होंने सद्यः मेरी प्रा
स्वीकार कर जो मुझे मान दिया है, मैं जानता हूँ, उसका कारण मेरी यो
नहीं, वरन् उनकी उदारता और मेरे प्रति उनका स्नेह-भाव ही है।

इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में मेरे योग्य शिष्य श्रीभग
शरणजी ने मुझे अमूल्य सहायता दी है। उनके उत्साह और तत्परता
अभाव में पुस्तक अब तक भी पूरी हो पाती, मुझे इसमें सन्देह है।

इस पुस्तक के महत्त्व और उपयोगिता के संबंध में मुझे कुछ कहना न
इसका निर्णय सहृदय और विद्वान् पाठक ही करेंगे।

हिन्दी विभाग
गया कालेज, गया
३-३-४८

शिवनन्दन प्रसाद

काव्य को समझ सकनेवालों का सम्मान इस देश में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। काव्य की रचना जिस प्रकार बड़ी योग्यता का प्रमाण है, उसी प्रकार काव्य का आनन्द ले सकना भी असाधारण योग्यता की अपेक्षा रखता है। बहुत पुराने जमाने से काव्य बहुत सुकुमार कलाओं में गिना जाता आ रहा है। बुद्धदेव को जो कलाएँ सिखाई गई थीं उनमें काव्य भी अन्तर्भुक्त था। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ललितविस्तर में गिनाई हुई सभी कलाएँ बुद्धदेव के युग में नागरिक-जीवन का आवश्यक अंश बन गई थीं। प्राचीन जैन-शास्त्रों में जिन ७२ कलाओं की चर्चा मिलती है उनमें भी काव्य का स्थान है। वात्स्यायन के कामसूत्र में जिन सुकुमार कलाओं की चर्चा है उनमें लगभग एक तृतीयांश विशुद्ध साहित्यिक है, बाकी में कुछ तो नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा से संबद्ध हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर उन सभी वस्तुओं की गणना कला के रूप में होने लगी थी, जिनमें कुछ चतुराई की आवश्यकता हो; क्योंकि बाद में लोगों ने अपने मन से सैकड़ों प्रकार के कौशलों को 'कला' नाम देकर चला दिया है। इतना निश्चित है कि काव्य, आख्यायिका, बिन्दुमती-प्रहेलिका आदि विशुद्ध साहित्यिक विनोद कला के अन्तर्गत अवश्य माने जाते थे और उनकी रचना और रस-ग्राहिता दोनों ही बड़े सम्मान की बातें थीं। राज-सभाओं में काव्य-कला बड़ी प्रतिष्ठा दिलाती थी और घटाओं गोष्ठियों और समाजों में तथा उद्यान-यात्राओं, सरस्वती-भवनों और पान-शालाओं तक में वह अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठाती थी। प्राचीन ग्रंथों से यह भी स्पष्ट है कि इन सभाओं में सम्मान देनेवाली काव्यकला को हर पहलू से सीखने और सिखाने का विशेष प्रयत्न किया जाता था। — ने अपने काव्यादर्श में लिखा है ( १:१०४-१०५ ) कि कवित्व-शक्ति यदि भी हो तो भी बुद्धिमान व्यक्ति यदि काव्य-शास्त्रों का अभ्यास करे तो /

अवश्य उसपर अनुग्रह करती हैं और परिश्रमी व्यक्ति सहृदयों की गोष्ठी में सम्मान पा जाता है। पुरानी आनुश्रुतिक परंपराओं से यह भी स्पष्ट है कि राज-सभाओं में काव्य की रसग्राहिता का बड़ा आदर होता था और बड़े घराने के अंतःपुरों की गृहदेवियाँ भी काव्य-शास्त्र के अध्ययन में निपुण हुआ करती थीं।

इस प्रकार बहुत पुराने ज़माने से ही काव्य केवल कवियता के भावोल्लास का विषय ही नहीं था, बल्कि विद्वानों और सहृदयों की आलोचना और प्रत्यालोचना का भी विषय था। दीर्घ काल की रगड़-झगड़ के बाद भारतीय अलंकारशास्त्र ने शब्द और अर्थ के संबंध पर और सहृदय के रसग्रहण की प्रक्रिया पर बहुत ही सूक्ष्म और वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थापित किए। काव्य के रसग्रहण के लिए इन आचार्यों ने व्यक्ति-निरपेक्ष एक सामान्य मान-दंड स्थिर करने में बहुत दूर तक सफलता प्राप्त की। शायद संसार के किसी देश में शब्द और अर्थ के संबंधों का और रसानुभूति के सिद्धान्तों का ऐसा विवेचन नहीं हुआ है। यह सारा साहित्य भारतीय मनीषा के उत्कर्ष का उत्तम निदर्शन है।

परन्तु मनुष्य बदलता रहा है, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हुआ है, मनस्तत्त्व के विश्लेषण का अधिकाधिक सुयोग उसे मिला है, जगत् के रहस्यों की नई जानकारी उसे प्राप्त हुई है, राजदरबार से साहित्यिक सम्मान का केन्द्र हटकर छापे के अक्षरों को पढ़ सकनेवाली जनता में चला गया है और यद्यपि शब्द और अर्थ के संबंध में कोई अन्तर नहीं आया है तो भी रसग्राहिता का प्रधान आश्रय सहृदय का चित्त अवश्य परिवर्त्तित हुआ है। साथ ही साथ काव्यालोचन के नए-नए ढंग आविष्कृत हुए हैं। नई आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं ने कवि को काव्य-लोक से खींचना शुरू किया है और सहृदय को जीवन की कठोर वास्तविकताओं के सम्मुख खड़ा कर दिया है। अब काव्यालोचन के लिए प्राचीन सहृदयों के मानदंड सब समय काम नहीं देते। दूर-दूर देशों की नई आलोचनात्मक प्रणालियाँ भी इस देश में आई हैं। इन सबका अध्ययन किये बिना इस युग के साहित्यिक विद्यार्थी का ज्ञान अधूरा रह जायगा।

मेरे मित्र श्रीशिवनन्दनप्रसादजी ने नाना ग्रन्थों से आलोचना-शास्त्र के विविध रूपों का संग्रह और विवेचन करके यह पुस्तक लिखी है । उन्होंने यथावसर पुरानी बातों का भी अपने ढंग से विवेचन किया है, नवीन सिद्धान्तों की भी आलोचना की है । यह कार्य साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बहुत आवश्यक था । इसके पहले भी लोगों ने थोड़ा-बहुत इस प्रकार का प्रयत्न किया है । फिर भी श्रीशिवनन्दन बाबू की पुस्तक में एक विशेषता है । अब हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक अंग काफी प्रौढ़ हो गया है और यह आवश्यक है कि हिन्दी के विद्यार्थी अपने देश के साहित्य को अपने प्रौढ़ पंडितों के विवेचन के अनुसार जानने का अवसर पावें । पद-पद पर विदेशी पंडितों की बात उद्धृत करके और विदेशी कवियों के काव्यों में से उदाहरण देने से विवेचना प्रभावोत्पादक नहीं होती । विद्यार्थी उसे ठीक से पचा नहीं पाता । शिवनन्दन बाबू ने अपने साहित्य के आलोचकों की पर्याप्त चर्चा की है । विशेष रूप से उन्होंने पंडित रामचन्द्र शुक्ल के मतों से अपने पाठकों को परिचित कराया है । पिछले कई वर्षों में पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसा गंभीर और स्वतंत्र विचारक इस देश में दूसरा नहीं हुआ । अलंकारशास्त्र के सभी अंगों पर उनका अपना सुनिश्चित मत था । वे प्राचीन भारतीय आलंकारिकों की महिमा और मर्यादा के बड़े अच्छे जानकार थे, पर उनके अन्धानुकरण करनेवाले नहीं थे । उनके समान महान विचारक का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पड़ना निश्चित है । इसी लिए हिन्दी के विद्यार्थियों को शुरू से ही उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक है । इस पुस्तक में उनके मतों का विशेष रूप से समावेश उचित ही हुआ है ।

काव्य की चर्चा अब कौशल के रूप में या इस या उस सभा में सम्मान दिलानेवाली कला के रूप में नहीं हो सकती । यह समूची जाति को प्रभावित करने के कारण जीवन का संचालक है । यह बात नहीं है कि पुराने जमाने में यह ऐसा नहीं था । काव्य सदा से मनुष्य-समाज के आदर्शों का परिचालक रहा है । हम आज जो कुछ हैं उसमें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास का कितना अधिक दान है । परन्तु यह सत्य है कि हमारे अनि

के एक युग में काव्य की चर्चा एक प्रकार के कौशल के रूप में हुई है। इस युग में यह बात अचल है। काव्य अब जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों का विधायक और संचालक बनता जा रहा है। इसीलिए जीवन के विभिन्न पहलुओं को मुख्य रूप से देखनेवाले विवेचकों ने काव्य के विभिन्न पहलुओं को अधिक ग्राह्य बताया और फलस्वरूप अनेक प्रकार के वादों का जन्म हुआ है। शिवनन्दन बाबू ने इन वादों की अच्छी विवेचना की है। कई स्थानों पर मेरा व्यक्तिगत मत ठीक वही नहीं है, जो उनका है; तो भी मुझे इस बात का सन्तोष है कि इस पुस्तक के पाठकों को लेखक के मत के सिवा अन्य दिशाओं में सोचने के लिए भी मार्ग सर्वत्र खुला हुआ है और वह स्वतंत्र भाव से भी विचार करने का अवसर पाता है। लेखक की विवेचना सर्वत्र ही नए रास्ते खोजने का अवसर देती है।

इस सुन्दर पुस्तक से निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी उपकृत होंगे। साहित्य की विविध प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए भी यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। मैं प्रेम और आनन्द के साथ इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ।

शान्तिनिकेतन
१२-२-४८

हजारी प्रसाद द्विवेदी

# विषय-सूची

# काव्यालोचन के सिद्धान्त

## हिन्दी-आलोचना का इतिहास

पूर्वपीठिका—आधुनिक आलोचना का मूल स्रोत अतीत की नीहारमय भूमि से ही निःसृत है। आलोचना को आज हम जिस समृद्ध रूप में देखते हैं, वह शताब्दियों के क्रमिक विकास का परिणाम है। यह विकास आदि संस्कृत काल से ही होता चला आया है। इसके अलावा आधुनिक हिन्दी-आलोचना में संस्कृत-काव्यालोचन के शास्त्रीय सिद्धान्तों का काफी प्रभाव पड़ा है। इसी हेतु प्रस्तुत प्रबंध में हिन्दी-आलोचना की रूप-रेखा उपस्थित करने के पूर्व हम संक्षेप में संस्कृत-समीक्षा पर भी दृष्टिपात करेंगे। आलोचना के दो स्थूल विभाग किये जा सकते हैं—( १ ) विशुद्ध सैद्धान्तिक आलोचना ( Speculation criticism )—यह काव्यशास्त्र का विषय है, और इसके अन्तर्गत काव्य के सामान्य सिद्धांतों का विवेचन आता है। ( २ ) व्यावहारिक आलोचना (Applied criticisms)—इसके अंतर्गत किसी विशिष्ट कवि अथवा रचना आदि का विश्लेषणात्मक या गुणदोषात्मक विवेचन हुआ करता है। यह द्वितीय रूप ही सामान्यतः समालोचना के नाम से प्रसिद्ध है।

आलोचना की प्रेरणा मानव की दो मूल-प्रवृत्तियों—सौंदर्यप्रियता और आत्माभिव्यञ्जन की अभिलाषा में निहित है।[१] विश्व में प्रथम ग्रंथ के प्रणयन के उपरान्त ही उसकी आलोचना हुई होगी, ऐसी आशा की जा सकती है। आर्यों का आदि-ग्रंथ वेद दैवी उत्पत्ति के कारण आलोच्य नहीं समझ

---

१ आलोचनादर्श—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

गया। पर इसके विभिन्न अंगों की विवेचना भाष्य के रूप में हुई और स्पष्टीकरण की यह प्रक्रिया भी आलोचना का एक आवश्यक पहलू है। शास्त्रों और उपनिषदों की टीका-टिप्पणी और भाष्यों में भी आलोचना का मूल इसी अर्थ में खोजा जा सकता है। पर साहित्यिक समालोचना के विकसित रूप के लिये आदि-कवि वाल्मीकि की रामायण तथा कुछ अन्य काव्य-ग्रंथों के प्रणयन ने ही प्रथमतः क्षेत्र प्रस्तुत किया। रामायण के संबंध में लिखित आलोचना प्राचीन काल में हुई थी, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं। इतना कहा जा सकता है कि प्रथम इसी का अध्ययन-अवलोकन हुआ होगा और मौखिक रूप से ही सही, इसके काव्यात्मक उत्कर्ष और उसके कारणों के संबंध में चर्चा हुई होगी।

अनेक अन्य काव्य-ग्रंथों का भी इस काल में तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन हुआ होगा और उनके सौंदर्य और चमत्कार के छिपे कारणों की खोज हुई होगी। आलोचना के विकास का यह अन्वेषण-काल था।[१] काव्य-सौंदर्य के इन्हीं कारणों के आधार पर काव्य-शास्त्र का उद्भव और विकास हुआ।

तो काव्य-शास्त्र क्या है? वह उन नियमों और सिद्धांतों की शृंखला है जिन्हें प्राचीन काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों ने कुछ उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों के सौंदर्य के आधार-रूप में पाया। पहले ये काव्य रचे गये और सहृदयों ने इनके सौंदर्य का अनुभव किया, तब इस सौंदर्य के कारणों की खोज हुई। यह नितान्त स्वाभाविक है।

पर कुछ काल के बाद इन्हीं नियमों और सिद्धांतों के आधार पर मानो प्रयोग-रूप में दूसरे काव्यों की रचना होने लगी और आगे चलकर तो काव्य-शास्त्र का अनुशासन कवियों के लिये अनिवार्य माना जाने लगा। काव्य-शास्त्र की पूर्णता के बाद इसी की कसौटी पर कवियों की रचनाएँ कसी जाने लगीं और शास्त्रीय नियमों के पालन की सीमा ही सफलता का मापदंड बनी। कुछ कालोपरान्त काव्य-शास्त्र के नियमों के स्पष्टीकरण के लिये

उदाहरण-रूप में पद्य लिखना ही कवि-कर्म समझा जाने लगा। फलतः पाण्डित्य-पूर्ण वाक्य की ही प्रधानता हो गयी। सरलता का लोप हो गया। मौलिकता दुस्साध्य हुई। साहित्य के प्राङ्गण में रस-पूर्ण काव्य-विन्यास के बदले खंडन-मंडन, मत-मतांतरों की वृद्धि हुई। इससे संस्कृत में समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष अधिकाधिक विकसित और समृद्ध भी होता गया। फलतः संस्कृत काव्य-शास्त्र जितना समुन्नत हुआ, उसमें जितने सूक्ष्म तथ्यों और मर्मों का गंभीर एवं विशद् विवेचन हुआ, उतना समालोचना के इस उत्कर्ष-युग में भी नहीं हो पाया है। (अनेक आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण लक्षण ग्रंथों द्वारा सैद्धांतिक समीक्षा का भाण्डार अलंकृत किया। इन ग्रंथों में से भामह के 'काव्यालंकार', दण्डी के 'काव्यादर्श', मम्मट के 'काव्य-प्रकाश', आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण', राजशेखर के 'काव्य-मीमांसा', जयदेव के 'चन्द्रालोक', धनंजय के 'दशरूपक', भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र', पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' और राजानक रूय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों के सिद्धांत-प्रतिपादन में महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इन्होंने विवेचन के उत्तर पक्ष ( निजी अथवा स्वमान्य पक्ष ) की अपेक्षा पूर्व पक्ष ( जिसका इन्हें उत्तर पक्ष में खंडन करना है ) का प्रतिपादन कहीं अधिक सुन्दरता के साथ किया है।) "यही बड़ी अद्भुत विशेषता है और आलोचना के इतिहास में बड़े गौरव की बात है।"[1]

यह तो हुआ काव्य-शास्त्र अथवा सैद्धांतिक आलोचना के संबंध में। पर व्यावहारिक आलोचना अपने प्रकृत रूप में संस्कृत में विकास नहीं पा सकी। जहाँ-तहाँ टीकाओं और शास्त्र-विवेचनों में ही उसका रूप सीमित रहा। टीकाकारों में इस दृष्टि से मल्लिनाथ और वाचस्पति मिश्र प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में आलोचनाएँ किस रूप में हुईं, इसके संबंध में पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"संस्कृत साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य या साहित्य-मीमांसक कोई नया लक्षण ग्रंथ लिखता

१ साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास, पृ० २६७

जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था, उन्हें रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था, उन्हें दोषों के उदाहरणों में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी, वह उन्हीं उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों में दोष का परिहार करता था।"[1] पर सम्यक् आलोचना के लिये उन्मुक्त वातावरण का अभाव था। शास्त्रों की सीमा के अन्दर ही काव्योत्कर्ष के कारणों की खोज कविता के विकास के लिये अस्वाभाविक ही नहीं, घातक भी हुई है। कवि की प्रतिभा सौन्दर्य-साधना के पुण्य-पर्व में विधान-बंधन मानकर नहीं चल सकती।

आलोचना एक दूसरे रूप में भी अपना प्रारंभिक परिचय देना चाह रही थी। शिष्ट, साहित्यिक और पांडित्य-प्रधान ग्रंथों के संबंध में जिनका प्रचार विद्वन्मंडली में ही था, आलोचना-संबंधी कुछ वाक्य जहाँ-तहाँ टीकाओं—भाष्यों आदि में ही मिलते थे ; पर जिन रस-सिद्ध कवियों की वाणी जनता के हृदय को आन्दोलित कर गयी थीं, उनके संबंध में आलोचनामूलक कुछ दंत-कथाएँ अथवा 'अज्ञातनामा आलोचकों के कुछ श्लोक भी' प्रचलित हो गये थे। इस प्रकार सूत्र रूप में आलोचना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) पुरा कवीनाम् गणना प्रसंगे
कनिष्ठिकाधिष्ठत कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावा
दनामिका सार्थवती बभूव ॥

(२) भासो हासः कवि कुल गुरुः कालिदासो विलासः

(३) काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला

(४) नारीषु रंभा······कवि कालिदासः···

(५) उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्
दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६३०-३१

(६) तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः
उदिते नैषधे काले क्व माघो क्व च भारविः

आगे चलकर हिन्दी में विकसित होनेवाली तुलनात्मक आलोचना की भूमिका छाया इनमें दृष्टिगत होती है। आधुनिक हिन्दी आलोचना पर संस्कृत काव्य-शास्त्रों के सिद्धांतों के अतिरिक्त अंग्रेजी समीक्षा-सिद्धांतों का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। अतः यहाँ पर अंग्रेजी पर भी एक सरसरी दृष्टि डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

अंग्रेजी समीक्षात्मक सिद्धान्तों के मूल ग्रीस के प्लेटो और अरिस्टोटल (अरस्तू) के सिद्धान्तों में मिलते हैं। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में कला का आधार और उसकी कसौटी पूर्ण सत्य की व्यञ्जना को माना है। अतः सत्य का निश्चित आदर्श सामने रखकर काव्य और कला की समीक्षा करने के कारण ये आदर्शवादी कहलाये। अरस्तू इसके विपरीत आलोच्य विषय के ही आधार पर उसकी विवेचना करने के पक्षपाती थे। कोई बाहरी सिद्धांतों का आरोप समीक्षा के लिये वे अच्छा नहीं समझते थे। अतः वे यथार्थवादी थे। वे काव्य की आत्मा वस्तु (Plot या Matter) को मानते थे और सुषमा (symmetry) अथवा रूप-विधान की पूर्णता (रीति) को बहुत अधिक महत्व प्रदान करते थे। आगे चलकर ईसा की तीसरी शती में लांगीनस (Longinus) ने 'दी सबलाइम' (The Sublime) नामक पुस्तक द्वारा इन्हीं दोनों के सिद्धांतों की पुनरावृत्तिमात्र की। इसके बाद आधुनिक काल में ही एडिसन ने कल्पना के महत्व को मान्य ठहराया। कल्पना को प्रभावित करने की क्षमता अथवा सुखानुभव करने की योग्यता ही काव्यकला के उत्कर्ष की कसौटी बतलायी गयी। इसके बाद मैथ्यू आर्नल्ड, पर्सफोल्ड, ब्रैडले, आई० ए० रिचर्डस आदि अनेक आचार्य हुए। पर प्लेटो, अरस्तू और एडिसन के सत्य के आदर्श, वस्तु और रीति का महत्व और कल्पना को उद्दीप्त करने की योग्यतावाले सिद्धांत किसी-न-किसी रूप में अब भी मान्य हैं।[1]

---

[1] साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास, पृ० ३०१-३

# हिन्दी-आलोचना

हिन्दी के आलोचनात्मक इतिहास को हम तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं :—

( १ ) आदि-युग ( २ ) विकास-युग और ( ३ ) उत्कर्ष-युग ।

आरंभ से पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के पूर्व तक हम आलोचना का आदि-युग मान सकते हैं ; क्योंकि इसी काल में इसका जन्म हुआ । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर पं० रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व तक का समय विकास-युग कहा जा सकता है, क्योंकि इसी युग में आलोचना अपने प्रकृत साहित्यिक रूप में विकसित हुई । पं० रामचन्द्र शुक्ल के ही प्रयासों द्वारा हिन्दी आलोचना को पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त हुआ । अतः शुक्लजी और उनके आगे का समय उत्कर्ष-युग समझा जा सकता है ।

## आदि-युग

हिन्दी में काव्य-कला की उन्नति के साथ ही साथ आलोचना की प्रवृत्ति विकसित हुई जिसका आदि-रूप निम्नलिखित उक्तियों में दृष्टिगत होता है—

( १ ) सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केशवदास
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास

( २ ) सार रह्यो सो सूरा कहिगा,
कबिरा कही अनूठी ।
रही सही सो तुलसी कहिगा
और कही सो जूठी ॥

( ३ ) तुलसी गंग दोवौ भए, सुकविन के सरदार ।

( ४ ) कविता करता तीन है, केसव, तुलसी, सूर ।
इनने खेती चुग लियो, सीला बिनत मजूर ॥

( ५ ) और कवि गढ़ियां, नन्ददास-जड़िया ।

(६) सतसइआ को दोहरा, ज्यों नावक को तीर।
देखन से छोटो लगे, घाव करे गंभीर॥

(७) ब्रज भाषा बरनी कविन,
निज निज बुद्धि विलास।
सब सो उत्तम सतसई,
करी बिहारी दास

(८) कवि कहँ देन न चहँ विदाई।
बूझहिं केशव की कविताई॥

खड़ी बोली हिन्दी में भी इस प्रकार के पद्य प्राप्त हैं :—

(६) सूर सिंधु, तुलसी के मानस,
मीरा के उल्लास अजान।
मेरे छन्दों में भी भर दो,
गायक वह स्वप्निल मुस्कान॥

(१०) सूर सूर तुलसी ससि जिसकी
विभा यहाँ फैलाते हैं।
जिसके बुझे कणों को ले कवि
अब खद्योत कहाते हैं।
उसकी विभा प्रदीप्त करे
मेरे उर का कोना-कोना।
छू दे यदि लेखनी धूल भी
चमक उठे बनकर सोना।—'दिनकर'

पर इस प्रकार की उक्तियों के होते हुए भी लिखित रूप में हिन्दी में आलोचना भक्तिकाल से पहले नहीं हुई। भक्तिकाल में भक्त कवियों के संबंध में कुछ बातें कही गयी हैं; पर साहित्य की दृष्टि से इसे हम आलोचना नहीं कह सकते।

भक्तिकाल के पश्चात् बहुत दिनों तक किसी ग्रंथ में—आलो

विचारों को हम नहीं पाते। "साहित्य ही जब तक न होगा तब तक आलोचना ही किसकी होगी और आलोचक ही कहाँ से होंगे ? हिंदी को इसीलिए अपना समस्त पूर्व माध्यमिक काल काव्य, काव्य-शास्त्र एवं साहित्य के निर्माण करने में ही बिताना पड़ा।" [१] आलोचना के मार्ग में दूसरी कठिनाई थी गद्य का अभाव। ब्रजभाषा कविता की भाषा थी, गद्य के लिये वह उपयुक्त नहीं सिद्ध हुई। फलस्वरूप आलोचना जहाँ-तहाँ छन्दों से ही झाँकती रही।

नवयुग के अरुणोदय के साथ ही हिन्दी में खड़ी बोली के रूप में गद्य मिल गया। भारतेन्दु ने इसका स्वरूप-परिष्कार किया। शिक्षा के प्रसार और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्राधान्य ने आलोचना के लिये क्षेत्र प्रस्तुत किया। समाचारपत्रों ने आलोचनात्मक अभिव्यक्ति का मार्ग सुगम किया और स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज आन्दोलन के सिलसिले में होनेवाले शास्त्रार्थों के कारण आलोचना-शैली भी तैयार होने लगी और हिन्दी के प्राङ्गण में प्रथम आलोचक का जन्म हुआ। वस्तुतः साहित्यिक समालोचना के प्रवर्त्तन करनेवाले पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ही हैं। उनकी पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' में सामयिक रचनाओं की आलोचनाएँ प्रकाशित हुआ करती थीं। 'प्रेमघन'जी ने सम्वत् १९४२ में गदाधर सिंह द्वारा प्रस्तुत 'बंग-विजेता' के अनुवाद का आलोचनात्मक अवलोकन अपनी पत्रिका में किया। उसी में लाला श्री निवास दास कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना छपी। श्री बालकृष्ण भट्ट ने भी अपने 'हिन्दी-प्रदीप' में जिसे उन्होंने बत्तीस साल तक चलाया—'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना की। भट्टजी ने ही सर्व-प्रथम भारतीय और यूरोपीय साहित्यों की तथा वेदों और कणाद-कपिल के शास्त्रों एवं कालिदास-भवभूति-श्रीहर्ष के काव्यों की स्वाधीन शैली से तुलना की। इनकी आलोचनाओं में तर्क का आधार रहता था।[२]

---

१ आलोचनादर्श—डा० 'रसाल'

२ 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है' शीर्षक निबन्ध।

इन लोगों की आलोचनाशैली में गुण-दोष-निरूपण की प्रधानता हुआ करती थी, पर दोष-निरूपण की ही विशेषता रहती थी। किसी रचना पर अपनी सम्मति तो वे देते थे, पर रचना के अंदर अपनी उस सम्मति के लिये पोषक कारणों की खोज में प्रवृत्त नहीं होते थे। विश्लेषणात्मक ढंग से रचना के अंतरंग और बहिरंग का परीक्षण तथा तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन का उनकी आलोचना में अभाव रहता था। आलोचना के उस प्रथम अपरिमार्जित रूप में इन अपूर्णताओं का होना स्वाभाविक है। 'प्रेमघन' की यह गुण-दोषात्मक आलोचना की परंपरा पत्र-पत्रिकाओं में बराबर चलती रही।

## विकास-युग

पर पुस्तक रूप में समालोचना का आरम्भ पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही किया। अतः विकास-युग के प्रवर्त्तक ये ही माने जा सकते हैं। 'सरस्वती' के द्वारा इन्होंने भाषा का स्वरूप परिमार्जन करने और उसे व्याकरण-सम्मत बनाने के अतिरिक्त आलोचना को भी यथेष्ट प्रगति दी। भारतेन्दु-युग में विषय की विविधता के साथ-साथ साहित्य जीवन की नूतनतम भावनाओं से स्पंदित तो हुआ था, पर व्याकरण की शुद्धता आदि की दृष्टि से भाषा एक प्रकार से उपेक्षित ही रही। यह कार्य द्विवेदीजी का था। अपनी आलोचना में भी इन्होंने विषय से अधिक भाषा को महत्त्व दिया और भाषा के दोषों पर ही अधिकतर प्रकाश डाला। 'प्रेमघन' की ही तरह इनकी आलोचनाओं में भी दोषदर्शन का ही प्राधान्य रहा; क्योंकि इनका विचार था कि दोषों से बचने के लिये उनकी ओर संकेत करना आवश्यक है। 'प्रेमघन' से इनका अंतर दो बातों में था। इनकी आलोचनाएँ केवल लेखों के रूप में ही न होकर पुस्तकों के रूप में भी हुईं। द्वितीय, इन्होंने भाषा-पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया। इनकी प्रथम आलोचनात्मक पुस्तक 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' ( सं० १९५८ में प्रकाशित ) में रा० ब० लाला सीताराम द्वारा अनुदित कालिदास के कुमारसंभव, मेघदूत,

रघुवंश और कटक-संहार के भाषा-संबंधी दोषों की छान-बीन अत्यन्त सूक्ष्मता से हुई है। भाव-विपर्यय आदि अनुवाद-गत दोषों पर भी विषद रूप से लेखनी चलायी गयी है। पर पुस्तक भर में केवल दोष-प्रदर्शन होने के कारण आलोचना का एकांगी रूप ही इसमें देखने को मिलता है। 'कालिदास की निरंकुशता' में भी भाषा का ही प्राधान्य है। कालिदास की रचनाओं में भाषा-संबंधी दोषों का विवेचन और भाषा की शुद्धता के विवेचन की घोषणा इस पुस्तक की विशेषता है।

'नैषध चरित चर्चा' और 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' में काव्य-भाषा के साथ काव्य-विषय का भी परिचय मिलता है, पर इनमें आलोचना के व्यापक, संश्लिष्ट रूप के बदले जहाँ-तहाँ कुछ श्लोकों का परंपरानुमोदित ढंग पर चमत्कार निर्देश करने और साधुवाद देने की प्रवृत्ति की ही प्रधानता है। वस्तुतः ये पुस्तकें परिचयात्मक हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।" पुस्तकों के अलावा माघ आदि संस्कृत कवियों के संबंध में लेख-रूप में भी इन्होंने आलोचनाएँ लिखीं। केवल प्रशंसात्मक या केवल निंदात्मक प्रवृत्ति एवं भाषा पक्ष पर ही अधिक जोर देने के कारण उच्च कोटि की साहित्यिक समालोचना का कार्य द्विवेदीजी नहीं कर सके। उनका आलोचना-क्षेत्र भी संस्कृत कवियों तक ही सीमित था। पर वह खड़ी बोली के बनने-बिगड़ने का समय था। अस्तु, भाषा के परिमार्जन और परिस्कार के लिये उन्होंने जो कुछ किया, वह स्तुत्य है। क्योंकि "जब तक भाषा का शुद्ध रूप ही न बन सकेगा तब तक उसमें साहित्य-समीक्षा एवं आलोचना-संबंधी उच्च कोटि का कार्य ही ठीक तरह से नहीं हो सकेगा।"[1]

द्विवेदीजी के पश्चात् मिश्रबन्धुओं ( रा० ब० पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र ) के सहयोग से समालोचना का रूप कुछ अधिक

---

१ आलोचनादर्श—डा० 'रसाल', पृष्ठ १०८

साहित्यिक हो चला। मिश्रबन्धुओं ने गुण-दोष-निरूपण के साथ-साथ किसी रचना के संबंध में अपनी निर्णयात्मक सम्मति देने का भी प्रयास किया, प्राचीन महाकवियों की रचनाओं का पांडित्यपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय इन्हीं को है। फिर भी इनकी आलोचना-शैली में रचना के बाह्यपक्ष को अन्तःपक्ष से अधिक प्रधानता दी गयी। रस, अलंकार, भाषा आदि का शास्त्रीय ढंग पर अध्ययन तो इसमें रहता था, पर कवि की अनुभूतियों अथवा अन्तर्वृ त्तियों की विश्लेषणात्मक विवेचना का अभाव-सा ही देखने में आता था।

'मिश्रबंधु-विनोद' के साहित्येतिहासिक इतिवृत्त संग्रह होते हुए भी इसमें जहाँ-तहाँ कुछ मुख्य कवियों और उनके काव्यों की आलोचना की गयी है। 'हिन्दी नवरत्न' में हिन्दी के नौ महाकवियों पर विस्तारपूर्वक आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। इस संबंध में भाषा पर ही नहीं, रस, अलंकार, शैली आदि का भी विवेचन हुआ है। मिश्रबंधुओं का हिंदी साहित्य का इतिहास, 'मिश्रबंधु-विनोद' का ही मानो संक्षिप्त रूप है। अस्तु, स्थान-संकोच के कारण उसमें आलोचना के तत्त्व न आ सके हैं।

तुलनात्मक आलोचना को जिनके कारण विशेष प्रगति मिली, वे पं० पद्मसिंह शर्मा थे। इनकी बिहारी सतसई की आलोचना केवल परंपराभुक्त पद्धति पर गुणदोषात्मक विवेचन ही नहीं वरन् आलोचना की तुलनात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति का भी पूर्ण सामंजस्य इसमें मिलता है। शैली में हास्य और व्यंग्य का पुट है। "साथ ही, ( संस्कृत में ) सतसई-शैली की उस परंपरा की ओर भी योग्यतापूर्वक अच्छा निर्देश किया गया है जिसके आधार पर ( बिहारी ) सतसई की रचना हुई थी। इस सिलसिले में 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के अनेक पद्यों से बिहारी के दोहों का मेल दिखाया गया है।" पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्घाटन भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है।"[1]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६३६

मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।'[1] जहाँ उन्होंने निर्णयात्मक या तुलनात्मक समीक्षा की है, वहाँ भी कोरी भावुकतापूर्ण प्रशंसा या निन्दा से अपने को बचाया है। ज्यादातर उनकी समीक्षाएँ विवेचनात्मक ही हैं। पर इस संबंध में एक बात विचारणीय है। जैसा कहा जा चुका है, विवेचनात्मक समीक्षा में आलोचना का प्रतिमान आलोच्य रचना ही हुआ करती है। उसी की विशेषताओं और सौंदर्य का उद्‌घाटन आलोचक को अभीष्ट होना चाहिये। समीक्षक अपनी रुचि या अपने सिद्धान्तों का आरोप उसपर नहीं करता। शुक्लजी की आलोचनाएँ विवेचनात्मक हैं अवश्य, पर उनमें अपनी रुचि के अनुसार सिद्धान्तों को कसौटी मानकर चलने की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है। नवीन और प्राचीन सभी कवियों की समीक्षा उन्होंने अपने पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर ही की है। निर्णयात्मक आलोचना में तो यह ठीक है, पर विवेचनात्मक आलोचना के लिये अनुपयुक्त है। फिर भी, जिन सिद्धान्तों को उन्होंने अपना लिया है, वे उन्हें सदा मान्य रहे हैं। उनकी सभी समीक्षाओं में यही सच्चाई है। और ये सिद्धान्त उनके अपने हैं दूसरे से उधार लिये नहीं। इन सिद्धान्तों का विशद विवेचन इस पुस्तक में अन्यत्र किया गया है, पर शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना की पूर्वपीठिका के रूप में इनका उल्लेख आवश्यक होने के कारण ये अत्यन्त संक्षेप में नीचे दिये जा रहे हैं:—

( १ ) काव्य में लोक-पक्ष का महत्त्व अथवा लोकादर्शवाद—उनके इस सिद्धान्त पर तुलसी का पूरा प्रभाव है। और इसी के कारण वे तुलसी को हिन्दी का श्रेष्ठतम कवि मानते थे और निर्गुण संतों एवं छायावाद के कवियों के प्रति अवहेलना का भाव रखते थे। सूर भी उतने प्रिय नहीं हुए; क्योंकि जिस प्रकार राम के लोक-रक्षक और लोक-रंजकस्वरूप का उत्कृष्टतम चित्रण तुलसी ने किया वैसा कृष्ण का चित्रण सूर ने नहीं किया।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६७६

( २ ) जीवन और जगत् के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन काव्य में आवश्यक है। ( इसलिये तुलसी सूर से श्रेष्ठ हुए। )

( ३ ) शील, शक्ति और सौंदर्य की अभिव्यक्ति का सामंजस्य घटित करना कवि के उत्कर्ष के लिये अपेक्षित है। तुलसी के राम में तीनों का सामंजस्य है, सूर के कृष्ण में केवल सौन्दर्य का पहलू चित्रित हुआ है। इसलिये शुक्लजी की दृष्टि में तुलसी अधिक ऊँचे हैं।

( ४ ) शुक्लजी ऐकांतिक प्रेम के पक्षपाती नहीं थे। प्रेम के लोक मंगल-कारी स्वरूप को ही इन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यह बात उनकी जायसी की समीक्षा से स्पष्ट झलकती है। प्रेम के क्षेत्र का मर्यादावाह्य अथवा ऊहात्मक चित्रण के ये विरोधी थे। अतः रीतिकालीन कवियों को इन्होंने श्रेष्ठ नहीं समझा।

( ५ ) काव्यक्षेत्र में ये रस-सिद्धान्त के पोषक थे और चमत्कारवाद या वक्रोक्तिवाद के विरोधी, इसी हेतु केशवदास को इन्होंने निम्न कोटि का कवि ठहराया। हृदय की मुक्तावस्था को ही इन्होंने रस-दशा माना, जिसमें हृदय अपने-पराये का भेद-भाव भूलकर अपने शुद्ध रूप में वर्त्तमान रहता है।

( ६ ) शुक्लजी ने प्रबंध काव्य को मुक्तक से श्रेष्ठ माना है। इस दृष्टि से भी तुलसी श्रेष्ठ सिद्ध हुए; क्योंकि सूर सागर में प्रबंध-शृंखला का उतना सुन्दर निर्वाह नहीं बन पड़ा है जितना रामचरित मानस में। इन्हीं सिद्धान्तों की कसौटी पर इन्होंने अपने आलोच्य ग्रंथों को कसा है। फलतः तुलसी सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध हुए और सूर संत कवि, केशव रीतिकालीन कवि तथा छायावादी कवि-गण के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाया। क्योंकि इन कवियों की आलोचना में भी, विशेषतः सूर की समीक्षा में ये उन्हीं मापदण्डों को लेकर चलते हैं, जिनके सहारे ये तुलसी की समीक्षा एवं मूल्य-निर्धारण करते हैं। इसलिये इन्हें सूर के काव्य में इनके द्वारा मान्य काव्य-सिद्धान्तों की अवहेलना नजर आती है।

सूर की आलोचना इन्होंने अत्यंत संक्षेप में की है, मानों इनका मन इस कार्य में रमा नहीं; फिर भी आलोच्य विषय को दो पक्षों में—हृदय-पक्ष और

कला-पक्ष में विभाजित करके इन्होंने जितनी मार्मिकतापूर्वक सूर काव्य की विशेषताओं का उद्‌घाटन किया है, वह उल्लेखयीय है। भ्रमर-गीत के संबंध में लिखते हुए इन्होंने विरह की मानसिक दशाओं का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भी हुआ है। जायसी की आलोचना में भी साहित्येतिहास, काव्यशास्त्र, दर्शन, भाषा-तत्त्व आदि के आधार के अलावा मनोवृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण है, जो हम जायसी के प्रेम-तत्त्व तथा वियोग-पक्ष के विवेचन में पाते हैं। कहीं-कहीं शेली, वर्ड्‌सवर्थ आदि अंग्रेजी कवियों से जायसी का भाव-साम्य दिखाया है। 'मत और सिद्धान्त' शीर्षक से तुलनात्मक दार्श-निक विवेचन भी हुआ है।

'गोस्वामी तुलसीदास' में शुक्लजी ने मनोविकारों की अभिव्यञ्जना पर तुलसी का पूर्ण अधिकार प्रमाणित करने के लिये मनोविकारों का विवेचन, कवि का -साहित्य में स्थान निर्धारित करने के लिये पूर्वापर परिस्थितियों का तुलनात्मक और ऐतिहासिक ढंग पर अध्ययन तथा काव्य-पक्ष की विशेषताओं के उद्‌घाटन के लिये काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन भी किया है। अन्य कवियों के गुण-दोषों से तुलसी के गुणों की तुलना भी कहीं-कहीं है। शुक्लजी की दृष्टि कवि के गुणों को ही देखती है, कहीं-कहीं दोषों को भी गुणों के रूप में देखा गया है।[1] फिर भी शुक्लजी की आलोचनाएँ दर्शन और काव्य-सिद्धान्त के विवेचन की ठोस भूमि पर आधारित हैं और इसलिये उनमें विचार-गाम्भीर्य के अलावा मर्मभेदी दृष्टि का भी परिचय मिलता है। नवीन शास्त्रीय तत्त्वों का भी इन्होंने उद्‌घाटन किया है। अलोच्य विषय का इन्होंने तत्कालीन—राज-नीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के आलोक में भी कहीं कहीं देखने की चेष्टा की है। ऐसे स्थलों पर समीक्षा का रूप ऐतिहासिक हुआ है। वे यद्यपि विश्लेषणात्मक समीक्षक और बुद्धिपक्ष की प्रधानता माननेवाले थे, फिर भी हृदय-पक्ष ( रस ) का पूरा योग उनकी समीक्षाओं में हम पाते हैं;

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—शिवनाथ, एम० ए०

क्योंकि वे आलोचक के साथ-साथ सहृदय भी थे। उनकी आलोचना-शैली, इसी हेतु, अत्यन्त सरस है।

शैली की दृष्टि से उनकी आलोचनाएँ अनेक प्रकार की हैं। विवेच्य की विशेषताओं के स्पष्टीकरण के लिये वे अनेक ढंग से विषय का विभाजन कर लेते थे।

भाषा इनकी अत्यन्त संयत होती है। एक शब्द भी अतिरिक्त नहीं। विचार वाक्यों में सघन रूप से कसे होते हैं। कम से कम शब्दों में गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों की अभिव्यक्ति उनकी भाषा-शैली की विशेषता है और यह उनके अत्यन्त सुलझे हुए विचारों का परिचायक है। अत्यन्त शिष्ट हास्य का ऐसा पुट जो साथ ही विचारों को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है, इनकी भाषा को सजीव और रोचक बना देता है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि शुक्लजी हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हुए हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना का जो मार्ग दिखलाया, उसका अनुसरण कर अनेक लेखकों ने विविध रचनाओं की समीक्षाओं से हिन्दी के भाण्डार को विभूषित किया। इनमें कुछ तो साहित्य की प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विवेचन को दृष्टि में रखकर लिखी गयीं जिनमें विशिष्ट रचनाओं की समालोचना भी साथ-साथ होती चली और कुछ विशेष पुस्तक अथवा कवि पर ही सम्पूर्णतः आधारित रहीं।

पं० कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्य-कला' और 'कविवर रत्नाकर' विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें हैं। प्रो० सत्येन्द्र की 'गुप्तजी की कला' में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की प्रवृत्तियों का सुन्दर और स्पष्ट निरूपण है। पं० जनार्दन झा द्विज की 'प्रेमचंद की उपन्यास-कला' भी अच्छा आलोचनात्मक ग्रंथ है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें निकल चुकी हैं—जैसे 'हमारे साहित्य-निर्माता', 'साहित्यिकी', 'संचारिणी', 'युग और साहित्य', 'कवि और काव्य'। इनकी भाषा आलंकारिक और रमणीयता लिये होती है, पर आलोचना-शैली में गाम्भीर्य और विवेचन में स्पष्टता उतनी नहीं है। इनके अतिरिक्त अखौरी गंगा प्रसाद सिंह ने 'पद्माकर की काव्य-साधना' और

श्री रामनाथ लाल 'सुमन' ने 'कवि—प्रसाद की काव्य-साधना' लिखी। दूसरी पुस्तक में शब्द-संयम ( Brevity ) का नितान्त अभाव है। तथ्य कम हैं, पन्ने ज्यादा रँगे गये हैं। पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की दो पुस्तकों—'मीरा की प्रेम-साधना' और 'संत-साहित्य' में विचारात्मक ढंग से मीरा तथा संत कवियों की कृतियों का विश्लेषण अथवा उनकी काव्य-प्रवृत्तियों का निरूपण तो नहीं है, किन्तु आलोच्य विषय से तादात्म्य संबंध स्थापित कर इन अनुभूति-प्रधान कवियों की सरस वाणी का रसास्वादन पाठकों को कराने में लेखक अवश्य पूर्ण सफल हुआ है। इनमें विद्वत्ता का प्रदर्शन कम, सहृदयता का परिचय अधिक मिलता है। प्रो० गुलाब राय द्वारा संपादित 'प्रसादजी की कला' में प्रसादजी पर सुन्दर और उपयोगी निबंध हैं, जिनमें कवि प्रसाद की काव्य-प्रवृत्तियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। पं० रामकृष्ण शुक्ल की 'सुरुचि-समीक्षा' में प्रमुख प्राचीन और नवीन कवियों पर आलोचनात्मक निबंध हैं। प्रो० नगेन्द्र ने 'साकेत : एक अध्ययन' तथा 'सुमित्रानन्दन पन्त' में अत्यन्त मौलिक एवं विचारपूर्ण ढंग से विषय का विवेचन किया है। दोनों श्रेष्ठ समीक्षाएँ हैं। प्रो० डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए० के दो श्रेष्ठ समीक्षात्मक ग्रंथ 'महाकवि हरिऔध और उनका प्रिय-प्रवास' और 'गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा' अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें विषय का विवेचन सरल तथा विश्लेषणात्मक ढंग से हुआ है और विचारों का संग्रह भी प्रचुर मात्रा में है।

पर पं० रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त गंभीर, विद्वत्ता-पूर्ण एवं ओजपूर्ण विस्तृत समीक्षा पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखनी द्वारा ही हुई। शुक्लजी की तरह वे अपने पूर्व-निर्धारित काव्य-सिद्धान्तों को आधार मानकर किसी रचना या साहित्यिक प्रवृत्ति की समीक्षा नहीं करते, बल्कि जैसा विवेचनात्मक आलोचना के लिये उचित है, आलोच्य को ही उसकी आलोचना का प्रतिमान ( Standard ) मानकर उसके सौन्दर्य के उद्‌घाटन में प्रवृत्त होते हैं। इसी दृष्टिकोण से 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने संत-काव्य की धारा की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं अनुसंधानपूर्ण

समीक्षा की है। इसमें संत कवियों की परिस्थितियों को यथोचित रूप से ध्यान में रखकर ही उनकी विशेषताओं की छान-बीन की है। साहित्येतिहास की प्रचुर सामग्री इसमें वर्तमान है। पर संत कवियों के अलावा हिन्दी साहित्य के शेष भाग पर जो विचार हैं, उनमें गहराई तो है, लेकिन इस प्रकार की मौलिकता नहीं। द्विवेदीजी का 'सूर साहित्य' भी इसी प्रकार का एक अत्यंत उत्कृष्ट समीक्षात्मक ग्रंथ है। सूरदासजी के साथ इसमें उचित न्याय हो पाया है।

श्री रामरतन भटनागर की 'सूर साहित्य की भूमिका' भी सूर साहित्य के विद्यार्थियों के लिये उपादेय है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'जयशंकर प्रसाद' नामक पुस्तक में प्रसादजी की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उनके 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के प्रकाशन ने साहित्य-संसार में थोड़ी हलचल मचा दी। उनकी समीक्षा-शैली चुस्त और मार्मिक है। काव्य-प्रवृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण उनकी विशेषता है। पर कहीं-कहीं उनकी शैली में कुछ अस्पष्टता रह ही जाती है। श्री इलाचन्द्र जोशी की 'साहित्य-सर्जना' भी उल्लेखनीय है। उधर आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों की आलोचना करनेवाली कुछ नयी पुस्तकें निकली हैं, जैसे रामविलास शर्मा, एम० ए०, पी०-एच० डी० का 'भारतेन्दु-युग', श्री शिवनाथ, एम० ए० का 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', श्री केशरीनारायण शुक्ल की 'आधुनिक काव्य-धारा', डा० नगेन्द्र का 'विचार और अनुभूति', दिनकर की 'मिट्टी की ओर' आदि।

## सैद्धान्तिक आलोचना

आलोचना के सैद्धान्तिक रूप पर भी पुस्तकें निकली हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र-संबंधी ग्रंथों के अनुवादों के अलावा हिन्दी में इस विषय के मौलिक ग्रंथ भी निर्मित हो रहे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'नाटक' शीर्षक निबंध प्राचीन नाट्यशास्त्र पर ही मूलतः अवलंबित है। उसके पश्चात् निबंध-रूप में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग से लेकर अब तक काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि पर प्रकाश डाला जाता रहा है। इस संबंध में सर्व-श्री जयशंकर

प्रसाद का 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', विनोदशंकर व्यास की 'उपन्यास-कला' और 'कहानी-कला' आदि पुस्तकों का उल्लेख भी आवश्यक है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धान्तिक आलोचनाओं के संबंध में कहा ही जा चुका है।

पर आलोचना के सिद्धान्तों के संबंध में सिलसिलेवार तौर से विवेचन करनेवाली प्रथम पुस्तक बाबू श्यामसुन्दर दास कृत 'साहित्यालोचन' है, जो अंग्रेजी आलोचना-सिद्धान्तों का हिन्दी रूपान्तर है। इसमें संस्कृत काव्यशास्त्र और नाट्य-शास्त्र से भी कुछ सहारा अवश्य लिया गया है; पर लेखक की अपनी मौलिकता कहाँ है, यह कहना कठिन है। इसमें साहित्य के अंगों का सैद्धान्तिक विवेचन है। शैली में शब्द-संयम का अभाव है और कहीं पुनरुक्तियाँ भी हैं। फिर भी पुस्तक विद्यार्थियों के काम की है। आलोचना के विविध रूपों एवं उसके इतिहास आदि का विवेचन करनेवाली पुस्तक डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'आलोचनादर्श' है। इसमें 'साहित्यालोचन' की भाँति साहित्य के विविध अंगों की आलोचना नहीं है वरन् आलोचना पर ही शास्त्रीय विवेचन है। शब्द-संयम का अभाव इसमें भी खटकता है। यद्यपि पुस्तक में गांभीर्य बहुत अधिक नहीं, फिर भी इस ओर दिशा-निर्देश करने का श्रेय 'रसाल' जी को अवश्य है। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की पुस्तक है। इसमें साहित्य-सिद्धान्तों के अलावा बहुत-सी बाहर की बातें भी घुस आयी हैं। यहाँ श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'साहित्य-दर्शन' भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

स्वतंत्र पुस्तकों के अलावा इतिहास-ग्रंथों आदि में भी सैद्धान्तिक आलोचनाएँ हुई हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इसका उदाहरण है। डा० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' का भी उल्लेख किया जा सकता है।

फिर भी हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना की कोई उत्कृष्ट तथा सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक अभी तक देखने में नहीं आयी है।

# समालोचना-शास्त्र

अर्थ और परिभाषा—समालोचना का शाब्दिक अर्थ है सम्यक् रूप से देखना ( सम+लुच+टाप् )। साहित्य की किसी विशिष्ट रचना अथवा अंग को भली भाँति देखना, उसका परीक्षण, विश्लेषण आदि कर उसके संबंध में अपनी सम्मति देना ही साहित्यिक समालोचना है। इसकी कोई ऐसी निश्चित परिभाषा अब तक नहीं दी गयी जो सर्वमान्य हो और जिसमें अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष न हो। विभिन्न युगों और परिस्थितियों में इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। जैसे :—

( १ ) दोष-दर्शन—आलोचना के इतिहास में एक युग ऐसा भी होता है जब किसी रचयिता की कृतियों में त्रुटियाँ दिखलाना ही आलोचना का लक्ष्य हुआ करता है। 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' ( पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ) में भी यही बात है।

( २ ) गुण-कथन—जहाँ इसका उद्देश्य किसी रचना-विशेष के संबंध में अत्यन्त प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त करना मात्र होता है।

( ३ ) मूल्य-निर्द्धारण —जहाँ गुण-दोषों की सम्यक् अभिव्यक्ति द्वारा किसी रचना की कीमत आँकी जाती है। इसी के अन्तर्गत अन्य रचनाओं के साथ उसकी तुलना भी आ जाती है।

( ४ ) स्पष्टीकरण — जहाँ रचना की व्याख्यामात्र द्वारा उसकी विशेषता का उद्‌घाटन किया जाता है।

( ५ ) सहानुभूति-प्रदर्शन ( Appreciation )—जहाँ एक सहृदय की भाँति रचना का रसास्वादनमात्र किया-कराया जाता है। इन विभिन्न अर्थों को देखते हुए एक नपी-तुली परिभाषा देने का प्रयास करना कठिन अवश्य है। फिर भी हम कह सकते हैं—"काव्य (साहित्य) की किसी विशिष्ट रचना अथवा अंग या अंगों का विचारपूर्ण सहृदय ( मापक ) द्वारा विवेचन,

छन्द-सिद्धांत, सौन्दर्योद्घाटन आदि को ही साहित्यिक समीक्षा कहते हैं।"

वस्तुतः साहित्य-समीक्षा साहित्य का ही एक अंग है; क्योंकि साहित्य दो प्रकार का होता है :—

( १ ) रचनात्मक साहित्य ( Creative Literature )—जिसमें कलाकार की प्रतिभा भाव, कल्पना आदि के आधार पर भाव-योजना, मूर्ति-विधान के द्वारा नवीन सृजन करती है। इसके अन्तर्गत कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, गद्यकाव्य आदि आते हैं।

( २ ) आलोचनात्मक साहित्य ( Critical or Speculative Literature )—जिसमें कल्पना आदि द्वारा एक नई रचना का प्रयास नहीं किया जाता है वरन् किसी पूर्व-रचित सामग्री के संबंध में ही छान-बीन की जाती है। पहले में कल्पना, भावना, अनुभूति आदि की प्रधानता रहती है, दूसरे में विचार-विश्लेषण, सौन्दर्यान्वेषण आदि की प्रधानता कही गयी है। यह नाना नाम-रूपात्मक जगत् और जीवन ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं, और काव्य इसी जगत् और जीवन को अभिव्यक्ति है, अर्थात् ब्रह्म की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है ( रामचन्द्र शुक्ल )।[1] आलोचना को हम काव्य के मर्मों और रहस्यों की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इस दृष्टि से आलोचना का आधार काव्य पर होते हुए भी उसे हम स्वतंत्र रचना भी कह सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक रचना का आधार कुछ न कुछ तो होगा ही। फिर भी रचनात्मक साहित्य में आनेवाले काव्य, नाटक आदि से आलोचना का प्रकार-भेद अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

**आलोचक**—आलोचना का विशद, शास्त्रीय विवेचन करने के पूर्व हम आलोचक के संबंध में कुछ आवश्यक बातों का विचार कर लेंगे। कहा जा चुका है, संस्कृत साहित्य में भी आलोचना का विधान रहा है। संस्कृत-काव्य-मीमांसकों ने इसी हेतु आलोचना और आलोचक पर भी विचार किया है। आलोचना के उद्देश्य, आलोचक के गुण और कर्त्तव्य आदि के साथ-साथ

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—श्री शिवनाथ, एम० ए०, पृ० १२४

ने आलोचकों के स्वभाव, योग्यता और प्रकृति के अनुसार उसका
क शास्त्रीय विभेद किया है। यहाँ इन्हीं बातों पर संक्षेप में विचार
ा जायगा।

संस्कृत में आलोचकों को 'सहृदय' कहा गया है। उसे कवि का समान-
र्मा—कवि के ही समान हृदयवाला भावुक और काव्यमर्मज्ञ माना गया
। वह केवल बुद्धि के द्वारा काव्य का विश्लेषण और मूल्यांकन ही नहीं कर
कता, प्रत्युत् उसके साथ-साथ वह काव्य के अंतःसौन्दर्य का साक्षात और
उसका रसास्वादन भी करने में समर्थ है। वस्तुतः पहले वह एक रसिक के
समान काव्य के अमृत रस को पीता है तब उसके सौन्दर्य के कारणों की खोज
करता है। पहले काव्य की आत्मा से उसका तादात्म्य स्थापित होता है तब
काव्य के शरीर से। पहले काव्य का आनन्द उसे प्राप्त होता है, तब काव्य का
ज्ञान। जिसे काव्य को आत्मा, ब्रह्मानन्द सहोदर रसानुभूति नहीं प्राप्त होती,
वह काव्य की विशेषताओं का न्यायपूर्वक उद्‌घाटन, विश्लेषण अथवा मूल्यां-
कन नहीं कर सकता। सच्चा समीक्षक रसज्ञ भी होता है और सरस भी।
केवल विद्वान् अथवा साक्षर होने से कोई सफल आलोचक नहीं हो सकता,
उसे सरस भी होना होगा। केवल साक्षर आलोचक पथ-भ्रष्ट होने से 'राक्षस'
बन जायगा अर्थात् उसकी आलोचना अनर्गल प्रलाप से अधिक नहीं होगी,
पर सरस आलोचक पथ-भ्रष्ट होकर भी रस का ग्रहण तो अवश्य कर लेगा।

साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरीतोपि सरसत्वं न मुञ्चति ॥[1]

भावक के भेद—इसी रस-ग्राहकता की शक्ति के कारण आलोचक को
कवि का समानधर्मा कहा गया। संस्कृत में समीक्षक के लिये भावक शब्द
आया है। भावक और भावुक में भेद है। भावुक का अर्थ है भाववाले अथवा
सहृदय और भावक का तात्पर्य है भावन करनेवाले अथवा काव्य-सौन्दर्य को

---

१ इस श्लोक में ध्यातव्य यह है कि साक्षर शब्द को उलट देने से राक्षस
बनता है, पर सरस को उलटने से सरस ही रहता है।

विवेकपूर्वक समझने, ग्रहण करने और उसका विवेचन करनेवाले। कोई भी रसिक व्यक्ति भावुक कहा जा सकता है, पर भावक काव्य के मर्मों को जाननेवाला आलोचक ही का पर्याय है। सरस आलोचक में भी कवि के समान प्रतिभा की स्थिति होती है। 'काव्य-मीमांसा' में राजशेखर ने प्रतिभा को दो प्रकार का माना है—( १ ) कारयित्री—जिसकी स्थिति कवि में होती है और जिसके कारण उपर्युल्लिखित रचनात्मक साहित्य की भाव-योजना अथवा मूर्त्तिविधान प्रतिफलित होता है। ( २ ) भावयित्री—जिसकी स्थिति आलोचक में मानी गयी है और जिसके कारण वह काव्य का मार्मिक विवेचन करने में समर्थ होता है।

कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद हैं[1]—( १ ) सहजा, ( २ ) आहार्या, ( ३ ) औपदेशिकी।

स्वभावजन्य अथवा नैसर्गिक प्रतिभा को सहजा कहते हैं। अभ्यासजन्य प्रतिभा आहार्या कहलाती है। पांडित्य और शिक्षा पर आधार रखनेवाली प्रतिभा औपदेशिकी है। पर तीनों में बीज-रूप से तो प्रतिभा कलाकार के अन्दर होती है नहीं तो अभ्यास और शिक्षा से उसका प्रस्फुटन कहाँ से होगा। केवल उसकी सजगता अथवा तीव्रता की मात्रा में भेद होता है। भावयित्री प्रतिभा के कारण आलोचक तथ्य, भाव, विचार आदि का विवेचन करने में सफल होता है। इस प्रतिभा के प्रकारांतर तथा प्रवृत्ति के आधार पर आलोचक चार प्रकार के माने गये हैं[2] :—

( १ ) आरोचकी, इन्हें कोई भी रचना साधारणतः सुन्दर नहीं लगती। इनके भी दो भेद होते हैं ( क ) नैसर्गिकी, ( ख ) ज्ञान मूला।

प्रथम में औरोचकिता निसर्ग-जन्य होने के कारण उसे कोई रचना अच्छी नहीं जँचती, लेकिन द्वितीय को विशिष्ट रचनाओं में सौन्दर्य के दर्शन कभी-कभी हो जा सकते हैं।

---

१ "सोऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च"

२ साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास

( २ ) सतृणाभ्यवहारी—इनमें गुण-दोष पहचानने की क्षमता का अभाव होता है। नीर-क्षीर-विवेक में असमर्थ होने के कारण इनकी आलोचनात्मक सम्मति का विशेष मूल्य नहीं होता है।

आचार्य मंगल ने भावक के उपर्युक्त दो ही प्रकार माने हैं। पर राजशेखर दो और प्रकार बतलाते हैं।

( ३ ) मत्सरी—ये द्वेषवश जान-बूझकर दूसरे के गुणों को भी दोष समझ बैठते हैं।

( ४ ) तत्त्वाभिनिवेशी—ये ही वस्तुतः सच्चे आलोचक हैं। इनमें नीर-क्षीर-विवेक की शक्ति होती है। गुण-दोष दोनों के प्रति इनकी सम-दृष्टि होती है और ये हृदय-पक्ष और कला-पक्ष दोनों का समान योग्यता के साथ उद्घाटन करने में प्रवृत्त होते हैं। पर ऐसे आलोचकों की संख्या अधिक नहीं होती। ये अत्यन्त विरल होते हैं।

संसार के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा या सामर्थ्य के पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचे हुए, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझनेवाले और पुनीत आदर्शों को दृष्टि में रखनेवाले विवेकपूर्ण व्यक्ति अत्यन्त अल्प संख्या में होते हैं। महात्मा कबीर ने कहा है :—

सिंहों के लहड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात ॥

यह कथन अक्षरशः सत्य है, पर अल्पसंख्यक होते हुए भी संसार के तिमिराच्छन्न पथ पर सभ्यता और संस्कृति की रश्मियाँ फैलाकर मानवता की सुप्त चेतना को ये ही जगाते हैं। इस दृष्टि से ही इन आदर्श व्यक्तियों का महत्त्व है। साहित्य के समीक्षक का कर्त्तव्य भी इससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उसी पर साहित्यानुरागी जनता के पथ-निर्देश का उत्तरदायित्व है; अतः उसके लिये एक आदर्श समालोचक होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

**आलोचक के कर्त्तव्य**—संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आलोचक के कर्त्तव्यों और गुणों का भी थोड़ा विवेचन हुआ है। कर्त्तव्यों के अनुसार ही गुणों

की अपेक्षा रहती है। अतः हम पहले आलोचक के कर्त्तव्यों को ही देखें। कहा जा चुका है, आलोचक या साहित्य-मीमांसक एक स्वतंत्र रचनाकार नहीं। कवि की भाँति जीवन और जगत् के सारभूत तथ्यों की रागात्मक व्यञ्जना उसका प्रथम उद्देश्य नहीं होता। वह तो किसी कवि की कृति का परीक्षण, विवेचन, और विश्लेषण करता है, उसके संबंध में अपनी राय देता है। अतः वह जीवन की यथार्थ की अभिव्यक्ति अथवा आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं करता वरन् जीवन की अभिव्यञ्जना करनेवाले साहित्य के यथार्थ रूप की व्याख्या और उसके गुण-दोषों के निर्देश द्वारा उसके आदर्श रूप का संकेत करता है। तो आलोचक के कर्त्तव्य हुए :—

( १ ) साहित्य को ( सैद्धांतिक रूप से अथवा किसी विशिष्ट रचना को ) जन-साधारण के लिये बोधगम्य बनाना ; क्योंकि किसी रचना के स्वरूप, उसका वाच्यार्थ और गूढ़ार्थ, उसके सौंदर्य और चमत्कार की इस प्रकार व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण, उस रचना के मर्म अथवा संदेश को पाठक के हृदय तक पहुँचाने के लिये आवश्यक हो सकता है। और—

( २ ) साहित्य के गुण-दोषों का विवेचन कर रचयिता का पथ-निर्देश करना, साहित्य-सृजन का उचित दिशा में नियंत्रण करना और भावी साहित्य का स्वरूप निर्धारित करना। यह भी आलोचक का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। जवाबदेह और विवेकशील आलोचक लेखकों पर अंकुश रखता है। साहित्य-क्षेत्र में उच्छृंखलता को बढ़ने से रोकता है। वह लेखकों और कवियों को उनकी रचनाओं के गुण और दोष बतलाकर उन्हें अपनी कला को पूर्णता की ओर ले जाने में सहायता देता है। और साथ ही उन्हें यह भी बतलाता है कि किस प्रकार के साहित्य की किसी युग-विशेष की परिस्थितियों में आवश्यकता है अथवा कैसी रचनाएँ अपनी सार्वदेशिक और सार्वकालिक उपयोगिता और आकर्षण के कारण अमर हो सकती है। उसकी सम्मति के आधार पर लेखक और कवि अपने आगे का पथ निर्णय करते हैं। अतः इस कर्त्तव्य को पालन करने में समालोचक का उत्तरदायित्व अत्यधिक रहता है; क्योंकि उसकी जरा-सी गलती या असावधानी से-

साहित्य का और इसी कारण मानवता का महान् अनर्थ हो सकता है। इनके अलावा सूक्ष्म रूप से विचार करने पर प्रतीत होगा कि आलोचक के कुछ और कर्त्तव्य हैं जो ऊपर लिखे दो कर्त्तव्यों में ही छिपे हैं। जैसे—

( ३ ) जन-साधारण के लिये साहित्य के अध्ययन-अवलोकन का मार्ग-निर्देश करना—यह आवश्यक इसलिये है कि जब अत्यधिक परिमाण में साहित्य की कृतियाँ प्रस्तुत होती हैं, तो उनमें से सभी का अध्ययन न तो संभव ही होता है, न उपेक्षणीय ही; क्योंकि अनेकों रचनाओं में कुछ ही उत्कृष्ट और अध्ययनयोग्य होती हैं। इन्हीं उत्कृष्ट और अवलोकनीय रचनाओं की ओर इंगित कर आलोचक पाठकों के समय, अर्थ और श्रम को बचाता है।

( ४ ) इस प्रकार के संकेत द्वारा और रचना को अधिक बोधगम्य बनाकर एवं उसके अंतःसौन्दर्य, मार्मिकता, चमत्कार आदि का पाठकों को साक्षात् कराकर आलोचक जन-रुचि का परिष्कार करता है। जनता की रुचि को ऊँचा उठाता है और अधिक श्रेष्ठ रचनाओं को समझने योग्य बनाता है। सद्ग्रंथों के अध्ययन की ओर जनता की रुचि जाग्रत कर वह उनके लौकिक, चारित्रिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा दे सकता है।

आलोचक के गुण—इन कर्त्तव्यों का निर्वाह उत्तरदायित्व के साथ समीक्षक तभी कर सकेगा जब उसमें कुछ विशिष्ट अनिवार्य गुणों की स्थिति होगी। इन्हीं गुणों के कारण आलोचक कला का मर्मज्ञ और पारखी कहा जाता है। आलोचक गुणी और गुणज्ञ नहीं होगा, तो अपने कार्य में वह अवश्य पथ-भ्रष्ट हो जायगा। गुणज्ञ आलोचक का सहारा पाकर ही किसी रचना के गुण प्रकाशित और उद्भासित होते हैं।

गुणाः गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः

अब देखना यह है कि वे कौन-से गुण हैं जो आलोचक के लिये आवश्यक बतलाये गये हैं। इन गुणों को हम तीन श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं—

और अनुभूतियों की पुनरावृत्ति कर सके। तभी तो वह उसकी कृति के मर्म को ग्रहण कर उसकी समीक्षा कर सकेगा। उसकी कल्पना जितनी शक्तिमती एवं संश्लिष्ट होगी, कवि द्वारा वर्णित सौन्दर्य को वह उतना ही अधिक समझ-कर उसके साथ न्याय कर सकेगा।

( ii ) तर्क या शक्ति भी समीक्षक के प्रधान गुणों में से है। तर्क के आधार पर ही अपने मंतव्य की पुष्टि और विरोधी मतों का खंडन कर वह पाठकों को संतुष्ट कर सकता है। गूढ़ तथ्यों की छान-बीन और गम्भीर सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये तर्क-पद्धति का ही आधार ग्रहण करना होता है। आलोचना की वह शैली जिसमें तर्क और बुद्धि ( Reason ) के स्थान पर भावुकता का सहारा लिया जाता है ( जैसे—प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना में जिसका विवेचन आगे किया जायगा। ) निंद्य ठहराई गयी है, क्योंकि इससे हमें आलोच्य की विशेषताओं का परिचय नहीं मिल पाता। समालोचक जो कुछ भी कहता है, वह सकारण हो, बुद्धिद्वारा संतुलित और परीक्षित हो, तभी आलोचना आदृत हो सकती है।

( iii ) तर्क का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। अपनी क्रियाशीलता का परिचय आलोचक की शैली में मिलता है। पर विवेक इसका भीतरी निगूढ़ पहलू है। विवेक का लगाव मस्तिष्क से होते हुए भी यह आत्मा का गुण है। सदसत् की पहचान, निसर्गतः योग्य के ग्रहण और अयोग्य के त्याग में ही विवेक निहित है। आलोचक के लिये विवेक का महत्त्व भी, इसी से अत्यधिक है। उसे हंस के समान नीर-क्षीर-विवेक में पटु होना चाहिए। गुण-दोषों को तत्काल पहचान लेने का कौशल उसमें अपेक्षित है। यह नहीं होगा तो अधीत और शास्त्रज्ञ होने पर भी वह सफल आलोचक नहीं हो सकता।

( iv ) विचार-गांभीर्य भी आलोचक में होना चाहिए। उसके विचारों में गम्भीरता का अभाव रहेगा तो रचना के गूढ़ तत्त्व तक उसकी दृष्टि जाकर उसमें छिपे सौंदर्य और उसके चमत्कार का उद्‌घाटन नहीं कर सकेगी। विचार-गाम्भीर्य मनन और चिन्तन से आता है और विचार-गांभीर्य से समीक्षा-शैली में पुष्टता, संयम और मार्मिकता का सन्निवेश होता है।

भेदभाव भूल जाना होगा, मित्र और शत्रु को समीक्षा में समदृष्टि से देखना होगा। वह आलोचक है, केवल आलोचक, पिता-पुत्र, मित्र-शत्रु कुछ नहीं, अतः वह न्याय करेगा। न्यायाधीश का तुलादंड उसके हाथों में है। वह उसकी मर्यादा की रक्षा करेगा। किसी के प्रति श्रद्धा के कारण न तो वह उसकी निराधार प्रशंसा ही करेगा और न ईर्ष्यावश उसकी अनुचित निन्दा। जो न्याय होगा, वही वह कहेगा। इसी भाव से आलोचना-कार्य में प्रवृत्त होना उसके लिये आवश्यक है।

( iv ) वह ऐसा कर सके, इस अनासक्ति का आलोचना करते हुए निर्वाह कर सके, इसके लिये उसे निर्भीक भी होने की आवश्यकता है। उसे इस बात का भय विचलित न कर सके कि उसकी आलोचना किसी की क्रोधाग्नि को भड़का देगी जिससे उसे ( आलोचक को ) व्यक्तिगत अनिष्ट की आशंका हो सकती है। पथ-प्रदर्शन वे ही कर सकते हैं, जो विपथगामियों को कान पकड़कर ठीक रास्ते पर लाने का साहस रखते हों। अतः अपने उद्देश्य की सफलता के लिये समीक्षक को अच्छाइयों का समर्थन और बुराइयों का विरोध निर्भीकतापूर्वक करना होगा।

( v ) स्थिरता ( Consistancy ) भी आलोचक का एक गुण होना चाहिए। नहीं तो एक आलोचना में वह जिन तथ्यों का प्रतिपादन करेगा, दूसरे में उसी का खंडन। इससे जनता में भ्रान्ति फैल सकती है।

( vi ) आलोचक को धीर होना चाहिए, अपनी आलोचनाओं के कड़े प्रत्युत्तर आदि से वह उद्विग्न और चंचल न हो जाय, नहीं तो न्याय का पक्ष उससे सहज में छूट जा सकता है।

(ख) (i) मस्तिष्क-संबंधी गुणों में प्रथम स्थान कल्पनाशक्ति का है। कल्पना मस्तिष्क की ही ज्ञानमूलावृत्ति है, हृदय की भावमूलावृत्ति नहीं, क्योंकि कल्पना द्वारा जो मूर्तिविधान होता है, उससे ज्ञान ही प्राप्त किया जाता है, मात्र उससे रसानुभूति नहीं होती। तो कल्पना की समीक्षक को आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि उसके द्वारा कवि[1] के हृदय में उठनेवाले संस्कारों

---

१ ऐसे स्थलों पर 'कवि' आदि शब्दों को उपलक्ष्य में ग्रहण करना चाहिए।

और अनुभूतियों की पुनरावृत्ति कर सके। तभी तो वह उसकी कृति के मर्म को ग्रहण कर उसकी समीक्षा कर सकेगा। उसकी कल्पना जितनी शक्तिमती एवं संश्लिष्ट होगी, कवि द्वारा वर्णित सौन्दर्य को वह उतना ही अधिक समझकर उसके साथ न्याय कर सकेगा।

( ii ) तर्क या शक्ति भी समीक्षक के प्रधान गुणों में से है। तर्क के आधार पर ही अपने मंतव्य की पुष्टि और विरोधी मतों का खंडन कर वह पाठकों को संतुष्ट कर सकता है। गूढ़ तथ्यों की छान-बीन और गम्भीर सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये तर्क-पद्धति का ही आधार ग्रहण करना होता है। आलोचना की वह शैली जिसमें तर्क और बुद्धि ( Reason ) के स्थान पर भावुकता का सहारा लिया जाता है ( जैसे—प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना में जिसका विवेचन आगे किया जायगा। ) निंद्य ठहराई गयी है, क्योंकि इससे हमें आलोच्य की विशेषताओं का परिचय नहीं मिल पाता। समालोचक जो कुछ भी कहता है, वह सकारण हो, बुद्धिद्वारा संतुलित और परीक्षित हो, तभी आलोचना आदृत हो सकती है।

( iii ) तर्क का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। अपनी क्रियाशीलता का परिचय आलोचक की शैली में मिलता है। पर विवेक इसका भीतरी निगूढ़ पहलू है। विवेक का लगाव मस्तिष्क से होते हुए भी यह आत्मा का गुण है। सदसत् की पहचान, निसर्गतः योग्य के ग्रहण और अयोग्य के त्याग में ही विवेक निहित है। आलोचक के लिये विवेक का महत्त्व भी, इसी से अत्यधिक है। उसे हंस के समान नीर-क्षीर-विवेक में पटु होना चाहिए। गुण-दोषों को तत्काल पहचान लेने का कौशल उसमें अपेक्षित है। यह नहीं होगा तो अधीत और शास्त्रज्ञ होने पर भी वह सफल आलोचक नहीं हो सकता।

( iv ) विचार-गांभीर्य भी आलोचक में होना चाहिए। उसके विचारों में गम्भीरता का अभाव रहेगा तो रचना के गूढ़ तत्त्व तक उसकी दृष्टि जाकर उसमें छिपे सौंदर्य और उसके चमत्कार का उद्‌घाटन नहीं कर सकेगी। विचार-गाम्भीर्य मनन और चिन्तन से आता है और विचार-गांभीर्य से समीक्षा-शैली में पुष्टता, संयम और मार्मिकता का सन्निवेश होता है।

भेदभाव भूल जाना होगा, मित्र और शत्रु को समीक्षा में समदृष्टि से देखना होगा। वह आलोचक है, केवल आलोचक, पिता-पुत्र, मित्र-शत्रु कुछ नहीं, अतः वह न्याय करेगा। न्यायाधीश का तुलादंड उसके हाथों में है। वह उसकी मर्यादा की रक्षा करेगा। किसी के प्रति श्रद्धा के कारण न तो वह उसकी निराधार प्रशंसा ही करेगा और न ईर्ष्यावश उसकी अनुचित निन्दा। जो न्याय होगा, वही वह कहेगा। इसी भाव से आलोचना-कार्य में प्रवृत्त होना उसके लिये आवश्यक है।

( iv ) वह ऐसा कर सके, इस अनासक्ति का आलोचना करते हुए निर्वाह कर सके, इसके लिये उसे निर्भीक भी होने की आवश्यकता है। उसे इस बात का भय विचलित न कर सके कि उसकी आलोचना किसी की क्रोधाग्नि को भड़का देगी जिससे उसे ( आलोचक को ) व्यक्तिगत अनिष्ट की आशंका हो सकती है। पथ-प्रदर्शन वे ही कर सकते हैं, जो विपथगामियों को कान पकड़कर ठीक रास्ते पर लाने का साहस रखते हों। अतः अपने उद्देश्य की सफलता के लिये समीक्षक को अच्छाइयों का समर्थन और बुराइयों का विरोध निर्भीकतापूर्वक करना होगा।

( v ) स्थिरता ( Consistancy ) भी आलोचक का एक गुण होना चाहिए। नहीं तो एक आलोचना में वह जिन तथ्यों का प्रतिपादन करेगा, दूसरे में उसी का खंडन। इससे जनता में भ्रान्ति फैल सकती है।

( vi ) आलोचक को धीर होना चाहिए, अपनी आलोचनाओं के कड़े प्रत्युत्तर आदि से वह उद्विग्न और चंचल न हो जाय, नहीं तो न्याय का पक्ष उससे सहज में छूट जा सकता है।

(ख) (i) मस्तिष्क-संबंधी गुणों में प्रथम स्थान कल्पनाशक्ति का है। कल्पना मस्तिष्क की ही ज्ञानमूलावृत्ति है, हृदय की भावमूलावृत्ति नहीं, क्योंकि कल्पना द्वारा जो मूर्तिविधान होता है, उससे ज्ञान ही प्राप्त किया जाता है, मात्र उससे रसानुभूति नहीं होती। तो कल्पना की समीक्षक को आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि उसके द्वारा कवि [1] के हृदय में उठनेवाले संस्कारों

---

१ ऐसे स्थलों पर 'कवि' आदि शब्दों को उपलक्ष्य में ग्रहण करना चाहिए।

और अनुभूतियों की पुनरावृत्ति कर सकें। तभी तो वह उसकी कृति के मर्म को ग्रहण कर उसकी समीक्षा कर सकेगा। उसकी कल्पना जितनी शक्तिमती एवं संश्लिष्ट होगी, कवि द्वारा वर्णित सौन्दर्य को वह उतना ही अधिक समझकर उसके साथ न्याय कर सकेगा।

( ii ) तर्क या शक्ति भी समीक्षक के प्रधान गुणों में से है। तर्क के आधार पर ही अपने मंतव्य की पुष्टि और विरोधी मतों का खंडन कर वह पाठकों को संतुष्ट कर सकता है। गूढ़ तथ्यों की छान-बीन और गम्भीर सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये तर्क-पद्धति का ही आधार ग्रहण करना होता है। आलोचना की वह शैली जिसमें तर्क और बुद्धि ( Reason ) के स्थान पर भावुकता का सहारा लिया जाता है ( जैसे—प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना में जिसका विवेचन आगे किया जायगा। ) निंद्य ठहराई गयी है, क्योंकि इससे हमें आलोच्य की विशेषताओं का परिचय नहीं मिल पाता। समालोचक जो कुछ भी कहता है, वह सकारण हो, बुद्धिद्वारा संतुलित और परीक्षित हो, तभी आलोचना आदृत हो सकती है।

( iii ) तर्क का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। अपनी क्रियाशीलता का परिचय आलोचक की शैली में मिलता है। पर विवेक इसका भीतरी निगूढ़ पहलू है। विवेक का लगाव मस्तिष्क से होते हुए भी यह आत्मा का गुण है। सदसत् की पहचान, निसर्गतः योग्य के ग्रहण और अयोग्य के त्याग में ही विवेक निहित है। आलोचक के लिये विवेक का महत्त्व भी, इसी से अत्यधिक है। उसे हंस के समान नीर-क्षीर-विवेक में पटु होना चाहिए। गुण-दोषों को तत्काल पहचान लेने का कौशल उसमें अपेक्षित है। यह नहीं होगा तो अधीत और शास्त्रज्ञ होने पर भी वह सफल आलोचक नहीं हो सकता।

( iv ) विचार-गांभीर्य भी आलोचक में होना चाहिए। उसके विचारों में गम्भीरता का अभाव रहेगा तो रचना के गूढ़ तत्त्व तक उसकी दृष्टि जाकर उसमें छिपे सौंदर्य और उसके चमत्कार का उद्घाटन नहीं कर सकेगी। विचार-गाम्भीर्य मनन और चिन्तन से आता है और विचार-गांभीर्य से समीक्षा-शैली में पुष्टता, संयम और मार्मिकता का सन्निवेश होता है।

( २ ) ( i ) अभ्यास-जन्य गुणों में प्रथम है गुणज्ञता। अर्थात् किसी रचना-विशेष में गुणों को तत्काल जान लेने की क्षमता। यह अभ्यास द्वारा ही संभव है। गुणों को सभी आसानी से नहीं पहचान सकते। गुणों को तत्काल पहचान लेने की पैनी दृष्टि के कारण ही आलोचक को साधारण रसिकजनों अथवा काव्य-प्रेमियों से ऊँचा माना जाता है। जिन गुणों पर, काव्य की जिन विशेषताओं पर अथवा उसके सौंदर्य के जिन पहलुओं पर सामान्य दृष्टि नहीं जाती, वे कुशल आलोचक की नजर के सामने अनायास चमक उठते हैं। काव्य के पाठकों को इन्हीं गुणों, विशेषताओं और पहलुओं का साक्षात् कराना आलोचक के उद्देश्यों में से है। रचना के किसी गुण का उल्लेख छूट न जाय, सौंदर्य का कोई पहलू आलोचक की दृष्टि से ओझल न रह जाय, इस बात का उसे काफी ध्यान रखना होता है। इसके लिये सतत् सावधानी, अभ्यास और कौशल की आवश्यकता है।

( ii ) इसके साथ जो दूसरी बात है, वह है गुण-दोषों पर सम-दृष्टि रखना। समीक्षक को रचना के गुणों और दोषों का विचार एक भाव से करना चाहिए। गुण हों तो उनका भी उल्लेख हो और यदि दोष हों तो उनका भी निर्देश कर दिया जाय, जिसमें भविष्य में उन दोषों से बचा जा सके। केवल गुण अथवा केवल दोष देखनेवाली दृष्टि एकांगी कही जायगी। समीक्षक के लिये ऐसा करना अनुपयुक्त है।

( iii ) समीक्षक को लोक-व्यवहार में भी कुशल होना चाहिए। उसकी वाणी में नम्रता होनी चाहिए। कटु सत्य को भी मीठे ढंग से कैसे कहा जाता है, इसका ज्ञान भी आलोचक के लिये आवश्यक है। इस कला को जानने से बहुत-सी कटुता, मन-मुटाव या कलह बचाये जा सकते हैं। व्यवहार में कुशलता का अर्थ यह भी है कि वह धोखा न खा जाया करे—खरे और खोटे की पहचान उसमें अवश्य हो। आजकल के कई आलोचक कहे जानेवाले व्यक्ति किसी लेखक की डिग्रियाँ देखकर या पुस्तक के रंग-बिरंगे गेट-अप की चकाचौंध में पड़कर अक्सर धोखा खा जाते हैं।

( ३ ) ( i ) शिक्षाजन्य गुणों में काव्य-शास्त्र का ज्ञान सबसे अधिक महत्त्व का है। विशेषकर शास्त्रीय पद्धति पर आलोचना करनेवाले समीक्षक के लिये रस, रीति, शब्द-शक्ति आदि का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। आजकल के आलोचकों में प्रायः इसी बात की कमी पायी जाती है। इसी का परिणाम है कि आज आलोचना के नाम पर अनर्गल प्रलाप और हवाई बातों की पत्र-पत्रिकाओं में वृद्धि हो रही है। ठोस आलोचना तभी होती है जब आलोचक काव्य-शास्त्र और समालोचना-शास्त्र का पूर्ण अधीत होगा। इसके साथ साहित्य का ( काव्य, नाटक आदि का ) विस्तृत अध्ययन भी अपेक्षित है, खासकर तुलनात्मक आलोचना में यदि केवल आलोच्य रचना का ही अध्ययन कर उसकी समीक्षा करने बैठे, तो उसका मूल्य-निर्धारण अत्यन्त विषम ( out of proportions ) होगा। भाषा के विविध पहलुओं का एवं समालोचना के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी उसके लिये उपयोगी है, क्योंकि भाषा का पहलू भी आलोच्य का अंग होता है।

( ii ) आलोचना साहित्य की होती है और साहित्य का संबंध सम्पूर्ण जीवन और जगत् से है। अतः आलोचक को जीवन और जगत् का जानने-वाला होना चाहिए अर्थात् उसे बहुज्ञ होना चाहिए। इसके साथ ही उसे अपने किसी प्रिय विषय में विशेषज्ञ भी होना अपेक्षित है, जिसमें वह इस क्षेत्र में अपने आलोचनात्मक उत्कर्ष तक पहुँचकर संसार को अपनी समीक्षात्मक प्रतिभा का परिचय दे सके।

( iii ) भाषा के शास्त्रीय ज्ञान के अलावा भाषा पर अधिकार भी समीक्षक के लिये अनिवार्य गुण है; क्योंकि समीक्षा भाषा के ही माध्यम से की जाती है। भाषा पर अधिकार न रहेगा, तो समीक्षक रचना की सूक्ष्म विशेषताओं को समझकर भी दूसरों पर उन्हें प्रकट करने में असमर्थ ही रहेगा। ऐसे आलोचक की दशा गूँगे अभिनेता से भी अधिक करुण होती है।

आलोचना के प्रकार —आलोचना के दो विभाग बताये जा चुके हैं

( १ ) सैद्धान्तिक आलोचना ( Pre-criticism or Speculative criticism )

( २ ) व्यावहारिक आलोचना ( Applied criticism )

व्यावहारिक आलोचना को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

( क ) शास्त्रीय अथवा विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर की जानेवाली समीक्षा ( Deductive method of criticism )

( ख ) स्वतंत्र वैज्ञानिक प्रणाली पर चलनेवाली समीक्षा ( Inductive method of criticism )

शास्त्रीय समीक्षा मुख्यतया चार प्रकार की हो सकती है :—

( i ) निर्णयात्मक समीक्षा ( Judicial criticism )
( ii ) तुलनात्मक समीक्षा ( Comparative criticism )
(iii) आदर्शात्मक समीक्षा ( Idealistic criticism )
(vi) चारित्रिक समीक्षा ( Ethical criticism )

स्वतंत्र वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति मुख्यतः पाँच प्रकार संभव है :—

( i ) विवेचनात्मक समीक्षा ( Inductive criticism )
( ii ) ऐतिहासिक समीक्षा ( Historical criticism )
(iii) मनोवैज्ञानिक समीक्षा (Psychological criticism)
(iv) आध्यात्मिक समीक्षा ( Inductive criticism )
( v ) प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षा ( Impressionist criticism )

विवेचनात्मक समीक्षा भी दो प्रकार की हो सकती है—

(१) अध्ययन, स्पष्टीकरण अथवा व्याख्या के रूप में

(२) विश्लेषण, गवेषण आदि के रूप में

ये विविध प्रकार निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे —
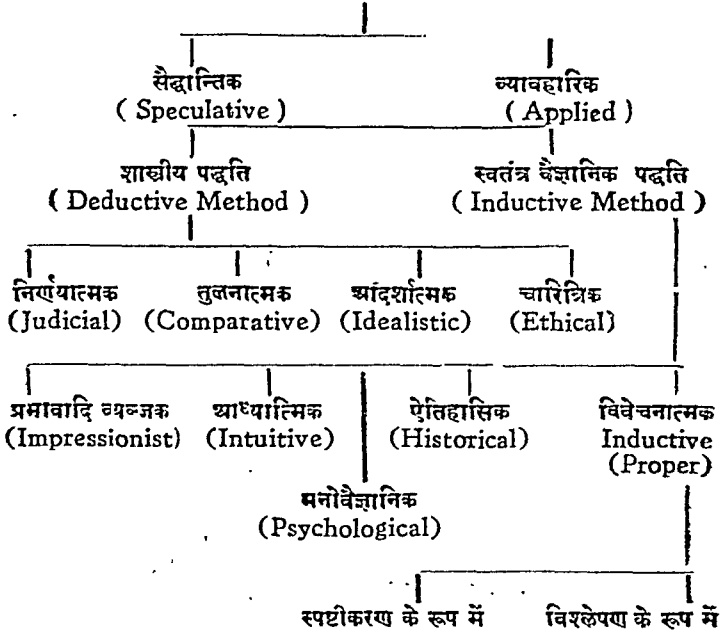
इनमें से प्रत्येक भेद को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

सैद्धान्तिक आलोचना—सामान्य रूप से साहित्य के सिद्धान्तों के विवेचन को सैद्धान्तिक आलोचना कहते हैं। पूर्वनिर्धारित सिद्धान्तों की कसौटी पर साहित्यिक विवेचन को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। काव्य-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। समीक्षा-सैद्धान्तिक का लक्ष्य विशिष्ट रचनाओं की आलोचना करना नहीं होता वरन् कविता, नाटक, उपन्यास आदि की रचना के लिये विशिष्ट मार्ग कौन-सा है, किन नियमों के आधार पर उनकी रचना की जानी चाहिए अथवा इनमें काव्य-सौन्दर्य के

जो साहित्य के संबंध में अपने स्वतंत्र सिद्धान्त नहीं बना सकते, जिनको लेकर विश्वासपूर्वक वे साहित्य के क्षेत्र में उतर सकें। क्योंकि आरम्भ में आलोचना-कार्य के लिये कुछ ऐसा आधार चाहिए जिसके सहारे समीक्षक आलोच्य रचना का विश्लेषण या मूल्य-निर्धारण कर सके। इसके अभाव में एक साधारण आलोचक पथ-भ्रष्ट हो जा सकता है।

पर काव्य-शास्त्र की इस उपयोगिता की भी सीमा है। जब काव्यशास्त्र अपने कठोर नियमों की शृंखला से कवि की प्रतिभा को अनुचित रूप में बाँध देने के लिये आगे बढ़ता है तो उसके सिद्धान्त काव्योत्कर्ष के मार्ग में साधक नहीं, बाधक बन जाते हैं। काव्य-शास्त्र के नियम केवल उन काव्य-ग्रंथों की विशेषताओं के सारभूत तथ्य हैं, जो प्रणीत हो चुके हैं पर उन्हीं काव्य-ग्रंथों में विश्व की सरसता, सौन्दर्य, रमणीयता अथवा चमत्कार का कोष खाली नहीं कर डाला गया है। कवि की प्रतिभा ऐसे सौन्दर्य विधान कर सकती है जो शास्त्रकारों के लिये सर्वथा नूतन हों और इस कार्य में काव्य-शास्त्र के पूर्व-निर्धारित नियमों का व्यतिक्रम भी हो सकता है। पर यहाँ यह कहकर कवि की रचना को दोषयुक्त ठहराना कि वह काव्य-शास्त्र के अमुक नियमों की कसौटी पर खरी नहीं उतरी, सर्वथा असंगत होगा। इसीलिये जहाँ समर्थ कवियों को काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विधान-बन्धन मानकर चलने की अनिवार्यता नहीं है वहाँ आलोचक को भी शास्त्रीय सीमा के बाहर भी कविता का सौन्दर्य देखने को आँखें खुली रखनी चाहिए।

<u>व्यावहारिक आलोचना</u>—इसके अनेक भेद बतलाये जा चुके हैं। पर इन सभी भेदों में जो सामान्य बात है और जो व्यावहारिक आलोचना की अपनी विशेषता है, वह है इसका साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों के विवेचन के बदले विशिष्ट रचनाओं की समीक्षा को अपना उद्देश्य बनाना। सैद्धान्तिक समीक्षा में तथ्यों और विचारों की प्रधानता होती है, व्यावहारिक समीक्षा में व्यक्तिगत रचनाओं की। किसी भी साहित्य में, आलोचना के इतिहास के आरंभिक काल में पहले व्यावहारिक समीक्षा ( चाहे मौखिक रूप से ही क्यों न हो ) विकसित हो लेती है, तब इसी के आधार पर सैद्धान्तिक

मीक्षा का विकास होता है। पर आगे चलकर ये ही समीक्षा-सिद्धान्त यावहारिक आलोचना के आधार बन जाते हैं। इसी के साथ-साथ पहली प्रक्रिया, शास्त्र से सर्वथा स्वतंत्र गवेषणात्मक ढंग से आलोचना की प्रक्रिया भी चलती रहती है। इसलिए व्यावहारिक आलोचना की हम दो कोटियाँ पाते हैं :—

( १ ) शास्त्र के आधार पर या पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों के मापदंड के सहारे आलोचना ( Deductive Method )

( २ ) स्वतंत्र वैज्ञानिक ढंग पर आलोचना (Inductive Method) शास्त्रीय आलोचना में आलोचना के गुण-दोषों के उद्घाटन और मूल्यांकन आदि उद्देश्य होने के कारण उसकी विशेषताओं के परीक्षण के लिये पहले से कसौटी तैयार रहती है। आलोचक अपनी रुचि के अनुसार किसी सिद्धान्त-विशेष के आधार पर ही रचना की अच्छाई-बुराई की जाँच करता है। पहले से मानकर चलता है कि अमुक विशेषता किसी उत्कृष्ट रचना में अपेक्षित होती है और वह आलोचना में इन्हीं विशेषताओं की खोज करता है। ये मिली तो रचना अच्छी, नहीं तो बुरी। किन विशेषताओं को वह आलोच्य में खोजेगा, इसका निश्चय वह पूर्व-निर्मित साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के और कभी-कभी, यदि उसमें इतनी सामर्थ्य है, स्व-निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर ही करता है। इस कोटि की आलोचना-पद्धतियों में उचित यह होता है कि जिस प्रकार की आलोच्य रचना हो, उसी प्रकार की सैद्धान्तिक कसौटी भी ग्रहण की जाय। समीक्षा के आधार-भूत सिद्धान्तों के चुनाव की उपयुक्तता पर ही आलोच्य के गुण-दोषों के विवेचन और मूल्य-निर्धारण का औचित्य निर्भर है। आधार रूप में गृहीत ये सिद्धान्त यदि भ्रामक हुए तो समीक्षा का अन्तिम परिणाम भी अनिवार्यतः भ्रममूलक होगा। किसी गीति-काव्य को नाट्यशास्त्र की कसौटी पर कसना तो सरासर पागलपन होगा ही, उसकी समीक्षा प्रबंध-काव्य के आधार पर करना भी समीचीन नहीं होगा। पं० रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना-सिद्धान्त प्रधानतः प्रबंध-काव्य को देखकर निर्मित हुए और वे उन्हीं के लिये उपयुक्त हैं भी

शुक्लजी के सिद्धान्तों पर गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्य और जीवन के आदर्शों का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है जिनमें लोक-रंजन और लोक-मंगल की भावना का प्राधान्य है। उन्होंने तुलसी, जायसी, सूर, तीनों की समीक्षा की है। पर उनका मापदंड तुलसी के अनुकूल होने के कारण, तुलसी उन्हें सर्व-श्रेष्ठ दीखे और सूर का काव्य उन्हें उतना अच्छा न लगा। पर मुक्तक काव्य की दृष्टि से सूर तुलसी से कहीं ऊँचे हैं, इसमें सन्देह नहीं। आलोच्य के अनुपयुक्त मापदंड लेकर चलने से इस प्रकार की भूलों का हो जाना अनिवार्य है। अतः समीक्षा की कसौटी के उचित निर्णय में बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। प्रत्येक कवि की रचना में कुछ न कुछ मौलिक विशेषता होती ही है, और इसे पहचानने के लिए पूर्व-निर्मित शास्त्र के सिद्धान्तों का आधार अपर्याप्त हो सकता है। रचनाओं के जितने प्रकार हो सकते हैं, शास्त्रीय सिद्धान्तों के तदनुकूल उतने विधि रूप नहीं बने होते। इसलिये उच्च श्रेणी की आलोचना में जिसमें रचना के अन्तर्बाह्य सौंदर्य के सभी पहलुओं का साक्षात् करना-कराना अभीष्ट होता है, इन शास्त्रीय सिद्धान्तों की अपूर्णता बाधक होती है। यही शास्त्रीय आलोचना की सबसे बड़ी कमजोरी है।

स्वतंत्र वैज्ञानिक आलोचना में इसी हेतु पहले से किसी नियम या सिद्धान्त का आधार लेकर नहीं चला जाता, बल्कि रचना के विभिन्न अंगों के विश्लेषण और व्याख्या द्वारा उसकी विशेषताओं का उद्घाटन किया जाता है। यह समीक्षा-पद्धति विज्ञान की प्रक्रिया का अनुसरण करती है। जैसे वैज्ञानिक अनुसंधानों में क्रमशः विशिष्ट-वस्तु व्यापारों का अवलोकन (Observation), उनके संबंध में विभिन्न प्रयोग ( Experiment ), तर्क और चिन्तन ( Reason ) द्वारा कार्य-कारण-संबंधों की प्रतिष्ठा और तब व्यापक सामान्य सिद्धान्तों का निर्णय ( Concluding Generalisation ) होता है उसी प्रकार इस समीक्षा-पद्धति में भी आलोचक किसी रचना-विशेष के सौन्दर्यादि से प्रभावित होता है और तब उसी प्रकार की अन्य श्रेष्ठ रचनाओं से उसकी तुलना और अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा वह उनके सौन्दर्य के छिपे कारणों की खोज करता है। इन्हीं कारणों की

दार्शनिक शृंखला के आधार पर साहित्य के व्यापक सिद्धान्त बनते हैं। इस पद्धति में आलोचक आलोच्य के सौंदर्य को एक सहृदय के भाँति अनुभव करने के पश्चात् उसे एक ठोस सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है और तब उसके कारणों की खोज करने के लिये आलोच्य का विश्लेषण करता है। इस प्रकार की स्वीकृति शास्त्रीय आलोचना में पहले से नहीं होती। उसकी प्रक्रिया बहुत कुछ यांत्रिक ( mechanical ) सी है। आलोचक का हृदय भी मस्तिष्क के साथ-साथ समीक्षा-कार्य में सजग रहे, इसकी जितनी आवश्यकता वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति में है उतनी शास्त्रीय पद्धति में नहीं, क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति में आलोच्य के सौंदर्य के निर्णय के लिये किसी पूर्व-निश्चित कसौटी के अभाव में आलोचक का हृदय ही कसौटी है। इसी कारण कच्चे आलोचकों के लिये वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति में कुछ भटक जाने का भी डर रहता है। पर जिनमें प्रतिभा है, वह वैज्ञानिक आलोचना के पथ पर अपने पैरों चलकर ही आलोच्य के साथ सर्वाधिक न्याय करने में समर्थ होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

अब इन दोनों समीक्षा-पद्धतियों के विविध भेदों पर हम विचार करेंगे।

निर्णयात्मक समीक्षा—शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति में इसका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। इसे गुण-दोषात्मक समीक्षा भी कहते हैं। आलोच्य के गुणों और दोषों के विवेचन द्वारा उसका मूल्य-निर्धारण ( Valuation ) ही इसमें अभीष्ट होता है। आलोचक का अन्तिम लक्ष्य आलोच्य के संबंध में न्यायाधीश की भाँति अपना निर्णय ( Judgement ) देना, उसके उत्कर्ष-अपकर्ष को परखकर कला की उच्च या निम्न श्रेणी में उसे रखना अथवा साहित्य में उसका स्थान निर्धारित करना रहता है। गुण-दोष-विवेचन इस लक्ष्य के साधन हैं। इस कार्य में काव्य-शास्त्र का सहारा अधिकतर लेना पड़ता है; क्योंकि अधिकतर काव्य के गुणों और दोषों की पहचान के लिये काव्य-शास्त्र को ही आलोचक आधार एवं निर्देशक ( Guide मानता है। इस प्रणाली में आलोचक की व्यक्तिगत रुचि को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में स्थान मिल ही जाता है। क्योंकि काव्यशास्त्र-संबंधी परस्पर-

विरोधी अनेक मतों और सिद्धान्तों में से किसका आधार ग्रहण कर वह समीक्षा-कार्य में प्रवृत्ति होगा, इसका निश्चय अन्ततः उसकी रुचि ही करती है। उदाहरणतः संस्कृत-समीक्षा-सिद्धान्तों में ही रस और वक्रोक्तिवाद में मौलिक विरोध है। यह समीक्षक की रुचि पर निर्भर है कि वह प्रथम को अपनी समीक्षा का आधार मानेगा या द्वितीय को। प्रथम मान्य होने पर हिन्दी के केशव, बिहारी आदि कविगण निम्न श्रेणी के सिद्ध होंगे; पर द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार यही सच्चे और श्रेष्ट कवि ठहरेंगे। एक सिद्धान्त के अनुसार जो गुण है, दूसरे के अनुसार वह दोष हो सकता है। यह तर्क कि मानव-वृत्तियाँ समान हैं; अतः जो वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है वह सभी को सुन्दर लगेगी ही, पूर्णांश में मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि व्यक्तियों की रुचियों, संस्कारों आदि के अनुकूल उनकी सौंदर्य-ग्राहिणी शक्ति भी भिन्न प्रकार की होती है और तदनुसार वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं अथवा उनके भिन्न-भिन्न पहलुओं में सौन्दर्य देखेंगे। कला में किसी को भावाभिव्यक्ति का सौंदर्य भाता है तो किसी को अनूठी उक्ति का। एक व्यक्ति को गुलाब की खुशबू अच्छी लगती है, दूसरे को रजनीगंधा की। गुलाब को गुलाब कहने में अर्थात् तथ्य के वर्णन में सभी सहमत होंगे, पर जहाँ अच्छाई और बुराई, गुण और दोष का प्रश्न सामने आयेगा, वहाँ वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य किसी न किसी रूप में रहेगा ही, इसीलिये निर्णयात्मक समीक्षा में जहाँ समीक्षक आलोच्य के गुण और दोषों का विवेचन करता है, वह व्यापक शास्त्र-सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण करने पर भी अपने व्यक्तिगत रुचि द्वारा अनुशासित होता ही है। यही कारण है कि हम निर्णयात्मक आलोचना के क्षेत्र में एक ही प्रसिद्ध कवि के संबंध में दो परस्पर-विरोधी विचार पाते हैं।

फलतः इस प्रणाली में जहाँ आलोचक न्यायाधीश की गद्दी पर बैठकर भले और बुरे का फैसला देता है, आलोच्य का मूल्य-निर्धारण अंतिम और सर्वथा निर्दोष कैसे हो सकता है?

<u>तुलनात्मक समीक्षा</u>—इसमें दो या अधिक रचनाओं अथवा कवियों की विशेषताओं की परस्पर तुलना की जाती है, उनमें साम्य और वैषम्य

दिखाया जाता है। तुलना उन्हीं रचनाओं अथवा कवियों की हो सकती है, जो एक वर्ग या प्रकार के हों। किसी निबन्ध की तुलना किसी नाटक से अथवा एक लौकिक शृंगार-रस-प्रधान कविता की तुलना एक रहस्यवाद की कविता से अनुचित होगी। तुलनात्मक समीक्षा में आलोचक का अभीष्ट प्रायः दो कवियों या उनकी रचनाओं के गुण-दोषों का मिलान कर उनमें से एक की दूसरे से श्रेष्ठता प्रतिपादित करना हुआ करता है। अतः निर्णयात्मक समीक्षा के समान गुणों और दोषों का कथन इसमें भी होता है ; पर उनमें साम्य और वैषम्य दिखलाने की प्रवृत्ति ही प्रधान होती है। तुलना तो विवेचनात्मक आलोचना के अन्तर्गत भी हो सकती है, पर वहाँ उसकी प्रवृत्ति अत्यन्त गौण और विवेचन एवं विश्लेषण के साधक रूप में होने के कारण उसे वहाँ हम तुलनात्मक आलोचना नहीं कहते। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'।

तुलनात्मक आलोचना गुण-दोष-विवेचन पर आधारित होने के कारण निश्चित सिद्धान्तों पर ही चलती है। अतः उन सिद्धान्तों के औचित्य का विचार इस प्रणाली में भी आवश्यक है। व्यक्तिगत रुचि के लिये इसमें अत्यधिक अवकाश होने के कारण आलोचक के अनुचित रूप से एक की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा की दलदल में फँस जाने की बहुत अधिक आशंका रहती है। देव और बिहारी को लेकर हिन्दी में इसी प्रणाली के अन्तर्गत प्रशंसा और निन्दा का बाजार खूब गर्म हुआ।

आदर्शात्मक समीक्षा—यह भी निर्णयात्मक समीक्षा से मिलती-जुलती है। इसमें आलोच्य में आदर्श रचना के गुणों की खोज की जाती है। आलोचक आलोच्य के सर्वांग सौन्दर्य पर अधिक जोर देता है, वह रचना की सफलता के लिये उसकी पूर्णता को अपेक्षित मानता है। मूल्य निर्धारण में अधिक उसका ध्यान इसी पूर्णता पर रहता है। इसमें आदर्शवाद का पुट रहता है। आलोचना की यह प्रणाली भी शास्त्रीय है, क्यों आदर्श रचना के गुणों से आलोच्य की विशेषताओं की मिलान करने के लि निश्चित सिद्धान्तों के प्रमाण की आवश्यकता होती ही है।

चारित्रिक समीक्षा—इसमें चरित्र और नीति-संबंधी तत्वों

प्राधान्य रहता है। आलोचक रचना द्वारा प्रतिबिम्बित होनेवाले लेखक के चरित्र पर प्रकाश डालता है और नीतिशास्त्र के नियमों की चरितार्थता रचना में खोजता है। नैतिक गुणों के समावेश की मात्रा को वह रचयिता की सफलता का मापदंड मानता है। इस प्रकार की समीक्षा बहुत अधिक नहीं होती।

विवेचनात्मक समीक्षा—यह स्वतंत्र वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति का प्रथम विभेद है। आलोच्य विषय के गुण-दोषों का विवेचन अथवा मूल्य-निर्धारण के बदले उसकी व्याख्या अथवा विश्लेषण द्वारा उसकी बाह्य और आंतरिक सभी विशेषताओं का उद्घाटन करना ही इसमें आलोचक का अभीष्ट होता है। अतः आलोच्य को किसी पूर्व-निश्चित मानदंड से अथवा निर्णीत शास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर नहीं परखा जाता वरन् उसी में वर्णित बातों को ध्यान में रखकर उसकी भीतरी और बाहरी सौन्दर्य का अन्वेषण किया जाता है। आलोच्य को जाँचने के लिए आलोच्य ही कसौटी होता है। आलोचक उसकी अच्छाई-बुराई का फैसला नहीं देता है वरन् 'इसमें क्या है ?' इसकी छान-बीन प्रधानतया करता है। इस समीक्षा के भी दो उपभेद हो सकते हैं। प्रथम वह जिसमें आलोच्य के वर्ण्य विषय का केवल स्पष्टीकरण किया जाता है और जिसका उद्देश्य उसके मर्म को पाठकों के लिये अधिक बोधगम्य और सहजग्राह्य बना देना मात्र होता है। दूसरा वह जिसमें आलोच्य के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उसकी एक-एक विशेषता का उद्घाटन किया जाता है जिससे उसकी भावव्यञ्जना, सौन्दर्य-विधान, रचना-कौशल आदि अनेक पहलुओं पर अनेक दृष्टि से प्रकाश पड़ता है।

आलोचना की प्रकृत प्रणाली विवेचनात्मक ही है। कलाकार की मौलिकता के प्रति पूर्ण न्याय का अवकाश इसमें मिलता है, क्योंकि शास्त्रीय नियमों के घेरे से मुक्त होने के कारण आलोचक की आँखें रचना की अभिनव विशेषताओं को देखने के लिए खुली रहती हैं। आलोचक आलोच्य को देखने के पहले ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसकी कसौटी निश्चित नहीं कर लेता, बल्कि उसका प्रतिमान उसे ही मानकर चलता है। इससे कस

होने, न होने का सवाल ही नहीं उठता। शास्त्रीय पद्धति की आलोचना के आधारभूत सिद्धान्त यदि गलत या अनुपयुक्त हुए, तो उसी के अनुपात में आलोचना भी असंगत हो जायगी। पर विवेचनात्मक समीक्षा में ऐसे किसी अनौचित्य का खतरा नहीं रहता; क्योंकि आलोचक एक सच्चे जिज्ञासु की भाँति आलोच्य की विशेषताओं को उसी के प्रकाश में देखता है।

ऐतिहासिक समीक्षा—इसमें भी किसी पूर्व-निश्चित प्रतिमान या शास्त्रीय सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं रहती। रचना का विवेचन स्वतंत्र वैज्ञानिक पद्धति पर होता है। विवेचनात्मक समीक्षा से इसका अंतर यही है कि इसमें ऐतिहासिक तथ्यों, आलोच्य के तद्युगीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों के आधार पर समीक्षा की जाती है। किसी भी रचना में उसके युग के वातावरण की छाप कहाँ तक और किस रूप में है, किस सीमा तक रचनाकार अपने युग से प्रभावित हुआ है, आदि बातों पर विचार करना भी आलोचक का अभीष्ट है।

मनोवैज्ञानिक समीक्षा—आलोच्य रचना द्वारा प्रतिबिम्बित रचनाकार की अन्तःप्रवृत्तियों की छान-बीन, मनोवृत्तियों के घात-प्रतिघात का रचना के स्वरूप पर प्रभाव और रचना के अन्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन इस समीक्षा की प्रधान विशेषता है। मनःशक्तियों की गवेषणा को अन्य सब बातों से अधिक महत्त्व दिया जाता है। शैली की दृष्टि से यह समीक्षा-प्रणाली वैज्ञानिक है; क्योंकि इसमें गवेषणा-पद्धति का ही अनुसरण किया जाता है।

आध्यात्मिक समीक्षा—इसमें जब आलोच्य के विवेचन का दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो जाता है अर्थात् जब उसकी विशेषताओं को जगत् और जीवन के आध्यात्मिक रहस्यों के मेल में रखकर देखा जाता है अथवा उसकी आध्यात्मिक व्याख्या की जाती है, तब समीक्षा का रूप आध्यात्मिक कहा जाता है। इसमें सहज ज्ञान ( Intuition ) अथवा अन्तर्दृष्टि का सहारा लिया जाता है और आलोच्य की उन विशेषताओं का आभास दिया जाता है, जो तर्क और बुद्धि की वृत्तियों के परे और आत्मगम्य है। मनोवैज्ञानिक

समीक्षा का ही अत्यन्त विशुद्ध रूप इसे कहा जा सकता है, पर जहाँ मनोवैज्ञानिक समीक्षा सदा तार्किक शैली पर चलती है, वहाँ व्याख्यात्मक समीक्षा में तर्क द्वारा मंतव्य की पुष्टि के लिये अधिक अवकाश नहीं रहता। अतः शैली में कुछ स्वच्छन्दता आ जाती है।

<u>प्रभावाभिव्यंजक-समीक्षा</u>—समीक्षा का यह सापेक्ष (Subjective) रूप है, जिसमें समीक्षक के हृदय पर आलोच्य की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति को प्राधान्य दिया गया है। किसी रचना के गुण-दोषों का विवेचन अथवा उसकी विशेषताओं एवं उनके कारणों की गवेषणा इसमें नहीं होती, बल्कि आलोच्य का आलोचक के हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन होता है। आलोच्य के इस प्रभाव का महत्व विवेचनात्मक आलोचना में भी अवश्य है, पर वहाँ आलोचक इससे आगे बढ़कर ( पर इस प्रभाव के ही आधार पर ) आलोच्य के सौंदर्यादि विशेषताओं के कारणों की खोज करता है। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा में इन कारणों की खोज नहीं की जाती, केवल उस प्रभाव का वर्णन भर होता है। इसी प्रभाव में आलोच्य का कलात्मक उद्देश्य निहित होने के कारण इसके ठीक-ठीक ग्रहण और व्यंजना में आलोचक की ओर से पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो समीक्षा का दूसरों के लिये कोई मूल्य नहीं रह जायगा।

इस प्रणाली का प्रचलन यूरोप में होने के उपरांत बंगला और हिन्दी में भी इसका प्रचार हुआ। हिन्दी में शास्त्रीय आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में यह समीक्षा-प्रणाली आयी जिससे उसका उचित रूप अभिव्यक्त नहीं हो पाया। फल यह हुआ कि प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के नाम पर कुछ अनाधिकारी व्यक्ति, जो न तो रचना के उचित प्रभाव को ठीक-ठीक ग्रहण करने में ही समर्थ थे और न उसकी सम्यक् रूप से अभिव्यंजना में ही, रचनाओं के संबंध में मनमानी बातें लिखने लग गये। इसी कारण पं० रामचन्द्र शुक्ल-जैसे गंभीर आलोचक ने इस प्रणाली का जोरदार विरोध किया है—"इस प्रकार की समीक्षा में कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव-या आशय क्या है, यह समझाने या समझने की आवश्यकता नहीं; आवश्यक

एतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े, उसका वह सुन्दरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे। कोई यह नहीं पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड़ सकता है। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिंतन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता भी छेक लिया।

"प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा भी ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, और न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिये पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले; इसलिये नहीं कि आलोचक के भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा मनोरंजन करे।" [१]

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा को ठीक-ठिकाने की वस्तु शुक्लजी इसलिये नहीं मानते कि उससे रचना के वर्ण्य विषय को ठीक-ठीक समझने में सहायता नहीं मिलती। आलोचक के व्यक्तित्व के रंग में रँगकर ही वह पाठकों के सामने आता है।

पर शुक्लजी का यह विचार सर्वांश में उचित नहीं जान पड़ता; क्योंकि किसी रचना की समीक्षा में, चाहे समीक्षा की कोई भी प्रणाली अपनायी जाय उसके प्रभाव के महत्व से हम इनकार नहीं कर सकते। इसी प्रभाव को सम्यक् रूप से ग्रहण करने के लिये किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत आलोचक को सहृदय, रसिक और अच्छी रुचियों और संस्कारोंवाला व्यक्ति होना आवश्यक होता है। आलोचक का कार्य तो वे ही कर सकेंगे, जो किसी रचना के प्रभाव (चाहे वह रसानुभूति हो, चाहे मूर्तिविधान, चाहे वक्रोक्ति-चमत्कार) को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकें। अतः प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचक भी रचना के प्रभाव को ठीक-ठीक ग्रहण करने पर ही सफल कहा जायगा। वह प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षक होने के कारण ही प्रभाव को ऊटपटांग रूप से

---

[१] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल।

महत्व करेगा, ऐसा मानना नितान्त अनुचित होगा। ग्रन्थ विषय को समझ
मात्र ही आलोचक का लक्ष्य नहीं; टीकाकार का भले ही हो। एक स
और सहृदय व्यक्ति पर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है, इस बात
दिग्दर्शन भी आलोचना का एक आवश्यक पहलू है। अतः प्रभावाभिव्य
समीक्षा सदैव और सर्वथा मिथ्या नहीं है।

समीक्षा की अन्य कई प्रणालियाँ हो सकती हैं, जो उतनी प्रचलित
महत्वपूर्ण नहीं हैं। अतः उनका अलग विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा

## ३

# भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का ऐतिहासिक विकास

**संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों का क्रमिक विकास**—भारत में क
सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आ रह
और वर्तमान काव्य-शास्त्र शताब्दियों के विकास का ही परिणाम है। क
के लक्षण का विवेचन करनेवाले प्रथम आचार्य कौन थे, यह कहना
संभव नहीं। पर जो सबसे प्राचीन लक्षण-ग्रंथ आज वर्तमान है, व
भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र। भरतमुनि के पूर्व भी अगणित साहित्याचा
चुके थे, यह नाट्य-शास्त्र में उद्धरणों से सिद्ध है। पर उनके ग्रंथों का
पता नहीं। तो काव्य-लक्षण का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ 'नाट्य-शास्त्र' ही

**भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र**—इसमें श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यक
( नाटकादि ) पर ही अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। काव्य के
में जो भरतमुनि की सबसे महान् देन है, वह है उनका रस-सिद्धान्त। अ
मार्मिक छानबीन और पूर्ववर्ती सैद्धान्तिकों की तर्कपूर्ण आलोचना के पर
उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उनका यह सूत्र—विभावानु

व्यभिचारी संयोगा द्रस निष्पत्तिः आज भी मान्य है काव्य के गुणों पर भी इन्होंने विचार किया है। इनके अनुसार काव्य के गुण दस हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कांति। इन्होंने काव्य के केवल चार अलंकारों का निरूपण किया है। वे हैं—उपमा, दीपक, रूपक और यमक।

वेद-व्यास का अग्नि-पुराण—इसका समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। काव्य-लक्षण का प्रथम उल्लेख इसी में मिलता है। इस संबंध में इसमें यह वाक्य है—

संक्षेपाद वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली काव्यं··· ।

अर्थात् अत्यन्त संक्षेप में अभीष्ट अर्थ की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही काव्य है। आदर्श काव्य वही है जिसमें कही जानेवाली बात कम-से-कम शब्दों में कह दी जाय, लेकिन उसका आशय पूरा-पूरा व्यक्त अवश्य हो जाय। काव्योत्कर्ष के साधक गुणों की संख्या अग्नि-पुराण में उन्नीस मानी गयी है। इसमें श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी, के सात शब्द-गुण हैं; माधुर्य, सविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामायिकत्व, ये छः अर्थगुण; तथा प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक और राग, ये छः शब्दार्थ गुण हैं। अलंकारों में सात शब्दालंकार और पन्द्रह अर्थालंकारों के केवल लक्षण दिये गये हैं।

कवि भट्टि का भट्टि-काव्य—यह लक्षण ग्रंथ नहीं है वरन् श्री रामचरित-विषयक काव्य है। पर इसमें १० से १३ सर्गों तक काव्य-विषयक कुछ निर्देश अवश्य हैं जिनमें ३८ अलंकारों के उदाहरण भी हैं।

भामह का काव्यालंकार—भामह का समय अनुमानतः दूसरी शती और छठी शती के मध्य में है। ये अलंकारवादी हैं। इनके अनुसार अलंकृत वाक्य ही काव्य है। अलंकार संप्रदाय में इनका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्यालंकार में इन्होंने ३८ अलंकारों का निरूपण किया है। काव्य के गुणों की संख्या तीन ही मानी है। केवल ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण ही इन्हें मान्य हुए।

दंडी का काव्यादर्श—इसका समय अनुमानतः ईसा की सप्तम शताब्दी है। काव्य के संबंध में अग्नि-पुराण का लक्षण दंडी को भी मान्य है, पर 'संक्षेपाद् वाक्यम्' को निकालकर इन्होंने कहा—'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' फिर भी तात्पर्य यही है, अभीष्ट अर्थ की व्यंजना करनेवाले शब्द को ही ये काव्य मानते हैं। इनके अनुसार शब्द ही काव्य है। दंडी ने काव्य-रचना के कारण का भी विवेचन किया है। काव्य की प्रेरणा कहाँ से आती है? काव्य-रचना में कवि किस शक्ति से समर्थ होता है, आदि बातों का विवेचन काव्यादर्श में हुआ है। तदनुसार काव्य के कारण तीन हैं—(१) नैसर्गिक प्रतिभा, (२) पर्याप्त निर्मल शास्त्र-श्रवण (व्युत्पत्ति) और (३) यथेष्ट अभ्यास।[1] लेकिन आगे चलकर दंडी का मत है कि यद्यपि कवि की निसर्गसिद्ध प्रतिभा के कारण कविता में कलात्मक उत्कर्ष की मात्रा बहुत बढ़ जाती है, फिर भी उनकी अनुपस्थिति में भी केवल अध्ययन और अभ्यास द्वारा काव्य की रचना हो सकती है, चाहे उतना श्रेष्ठ काव्य वह न हो। भरत के समान ही दंडी ने काव्य के गुणों की संख्या दस मानी है। नाम भी वही हैं, केवल लक्षण में कहीं-कहीं कुछ अंतर है। उन्होंने ३६ अलंकारों का विवेचन किया है।

उद्भट का काव्यालंकार सार संग्रह—इसका समय संभवतः ईसा की अष्टम शताब्दी है। इसमें ४१ अलंकारों का विवेचन किया गया है, जिनमें ६ अलंकार नवीन हैं। काव्य के लक्षण, कारण, गुण आदि का उल्लेखनीय विवेचन इसमें नहीं है।

रुद्रट का काव्यालंकार—रुद्रट का समय वामन से कुछ पूर्व माना जाता है। ये भी अलंकार-संप्रदाय के एक प्रधान आचार्य थे। काव्य के संबंध में जो सबसे नयी बात इन्होंने कही, वह यह है कि कविता कवि की मौलिक सृष्टि है। क्योंकि कवि के पात्रों का अस्तित्व नितान्त उसी रूप में केवल उसके

---

१ नैसर्गिकीय प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलं।
अमन्दश्याभियोगोऽस्याः कारणं काव्य संपदः॥ (काव्यादर्श, दंडी)

मानस-जगत् में ही रहता है। दूसरी बात यह है कि अब तक केवल शब्द को ही काव्य समझा जाता था, पर रुद्रट ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना।[२] काव्य की उत्पत्ति का कारण ये एक ही शक्ति को मानते हैं और वह है प्रतिभा। प्रतिभा से ही एकाग्र चित्त में विविध अर्थों का स्फुरण और उनकी अभिव्यक्ति के लिये आकर्षक एवं सुन्दर पदावली की प्राप्ति होती है। यह शक्ति दो प्रकार की है—(१) सहज अथवा नैसर्गिक, (२) उत्पाद्य अथवा व्युत्पत्तिजन्य। रुद्रट ने पाँच शब्दालंकार माने हैं।

वामन का काव्यालंकार सूत्र—इसका रचना-काल ईसा की अष्टम शती का उत्तरांश माना जाता है। वामन को काव्य में सौंदर्य का प्राधान्य अभीष्ट था। उनके अनुसार सौंदर्य की मात्रा ही काव्योत्कर्ष का मापदंड है। काव्य की सुन्दरता के कारण ही वे गुणों और अलंकारों को मानते हैं।[३] ये गुण और अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के हो सकते हैं। अतः शब्द और अर्थ दोनों काव्य हुए। इनके अनुसार भी काव्य का कारण अकेले प्रतिभा ही है।[४] इस निसर्ग-सिद्ध प्रतिभा के अभाव में कवि-कर्म हास्यास्पद हो जाता है। काव्य के गुणों की संख्या इन्होंने बीस मानी है, जिनमें दस शब्द के और दस अर्थ के हैं। इनके गुणों का लक्षण बहुतांश में भरत और दंडी के आधार पर है। इन्होंने अपने ग्रंथ में ३३ अलंकारों का निरूपण किया है, जिनमें दो नवीन हैं।

आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक—इसका रचना-काल नवीं शती का उत्तरार्द्ध है। इन्होंने भी शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का शरीर माना है।[५] काव्य में ये ध्वनि की महत्ता को जाननेवाले थे अर्थात् उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य वे हैं जिनमें व्यञ्जना की प्रधानता हो। ये काव्य में अलंकारों का

---

२. ननु शब्दार्थौ काव्यम्।

३ सदोष गुणालंकार हानादानाभ्याम्।

४ कवित्व बीजं प्रतिभानाम्।...कवित्वस्य बीजं संस्कार विशेषः कश्चित्।

५. शब्दार्थं शरीरं तावत् काव्यम्।

स्थान अत्यन्त गौण मानते थे। इन्हें ध्वनिवाद का प्रथम प्रवर्तक माना जा सकता है।

महाराज भोज का सरस्वती कंठाभरण—इस विशद ग्रंथ का रचना-काल ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। काव्य के स्वरूप, कारण अथवा गुण आदि के संबंध में कोई विशेष मौलिक बात इसमें नहीं है। भोज भी गुण-युक्त और दोष-रहित शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानते हैं और रस के साथ अलंकार को भी इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान मानते हैं। गुणों की संख्या इन्होंने २४ मानी है जिनमें कुछ वामन द्वारा निरूपित शब्द-गुण हैं और चौदह निम्नलिखित हैं—उदात्तता, ऊर्जस्विता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता, गंभीरता, विस्तार, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढ़ि। इनके ग्रंथ में अलंकारों का विवेचन अवश्य विस्तारपूर्वक हुआ है। इसमें २४ शब्दालंकार, २४ अर्थालंकार और २४ उभयालंकारों का निरूपण है। नौ अलंकार नवीन हैं। इनमें वैदर्भी आदि रीतियाँ और कौशिकी आदि वृत्तियाँ भी अलंकारों में ही गिन ली गयी हैं।

मम्मट भट्ट का काव्य-प्रकाश—काव्य-शास्त्र का यह अत्यन्त उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध या ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अनुमित हुआ है। काव्य के स्वरूप का जहाँ तक संबंध है, आचार्य मम्मट ने वामन के मत को बहुत दूर तक माना है; लेकिन गुणों के साथ अलंकारों को भी काव्योत्कर्ष के लिये अनिवार्य मानना इन्हें पसन्द नहीं। अलंकारों के न रहने पर भी दोष-रहित और गुण-युक्त शब्द तथा अर्थ काव्य हो सकते हैं। इन्होंने काव्य के तीन कारण माने हैं—(१) शक्ति या प्रतिभा, (२) लोकशास्त्र और काव्य-ग्रंथों से प्राप्त निपुणता अथवा विद्वत्ता और (३) काव्य-मर्मज्ञों की देख-रेख में काव्य-रचना का अभ्यास। कवि के लिये तीनों की आवश्यकता होती है।[1] अतः मम्मट, दंडी और वामन तीनों इस विषय में सहमत हैं कि कविता के कारण तीन हैं—प्रतिभा, अध्ययन

१ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञ शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।

और अभ्यास। मम्मट ने ८ शब्दालंकारों और ६२ अर्थालंकारों का निरूपण किया है जिनमें पाँच नवीन हैं।

राजानक रूय्यक का अलंकार-सर्वस्व—इसका रचना-काल बारहवीं सदी का मध्य माना जाता है। इस ग्रंथ का महत्त्व अत्यन्त विस्तारपूर्वक अलंकार-विवेचन के कारण है। इसमें ८४ अलंकार आये हैं। पर काव्य के अन्य लक्षणों का विवेचन इसमें नहीं के बराबर है।

वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार—वाग्भट का समय भी बारहवीं शताब्दी के ही अन्तर्गत है। इन्होंने गुण, अलंकार रीति और रस सहित तथा दोष-रहित शब्द और अर्थ को काव्य माना है।[1] इस लक्षण में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के समाहार की चेष्टा है। काव्य के कारण भी इन्होंने तीन माने हैं—(१) प्रतिभा, जिससे काव्य का जन्म होता है। (२) व्युत्पत्ति, जिससे उसका सौंदर्य-साधन होता है। और (३) अभ्यास जिससे उसकी उत्पत्ति बढ़ती है। गुणों की संख्या दंडी के अनुसार इन्होंने दस मानी है। नाम और लक्षण भी प्रायः वे ही हैं। इन्होंने चार शब्दालंकारों और ३५ अर्थालंकारों का निरूपण किया है।

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन—इसका समय भी बारहवीं शती ई० है। जैन आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य के अन्य लक्षणों में कोई मौलिक उलट-फेर नहीं किया, पर उन्हें अत्यन्त सिलसिलेवार और सूत्र-बद्ध रूप से साम[ने] रखा। इन्हें केवल छ शब्दालंकार और २९ अर्थालंकार स्वीकृत हैं।

पीयूषवर्ष जयदेव का चन्द्रालोक—इसका रचना-काल संभ[वतः] बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग या तेरहवीं शताब्दी का प्रथम भाग [है।] काव्य के लक्षण में जयदेव ने भी रीति, गुण, अलंकार, रस, वृत्ति आदि [का] समावेश किया है। जो कुछ भी सौंदर्य-वर्द्धक प्रभावोत्पादक आदि हैं,

---

१ निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारै रलं कृतम्।
( रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विंदती )।

काव्य के लिये अपेक्षित हैं। कविता के तीन कारण मान इन्होंने उनकी सार्थकता को और भी स्पष्ट कर दिया। शास्त्रश्रवण और अभ्यास के सहयोग से प्रतिभा काव्य को जन्म देती है, जैसे मिट्टी और जल की सहायता से बीज लता को उत्पन्न करता है। अर्थात् कविता का कारण केवल प्रतिभा है, शिक्षा और अभ्यास उसी ( प्रतिभा ) का पोषण करते हैं। काव्य के गुणों की संख्या इन्होंने आठ मानी है। भरत के दस गुणों में से इन्होंने कांति और अर्थ-व्यक्ति को छाँटकर उन्हें अपनाया। गुणों के लक्षण में भी एकाध ही स्थान पर कुछ भेद है। चन्द्रालोक में आठ शब्दालंकारों और ८२ अर्थालंकारों का वर्णन हुआ है, जिनमें १६ नये हैं।

विद्याधर की एकावली—यह ग्रंथ भी चंद्रालोक के समकालीन है। इसमें मौलिक प्रायः कुछ भी नहीं है।

विद्यानाथ का प्रतापरुद्र यशोभूषण—इसका समय भी वही है। मौलिकता का प्रायः अभाव ही है।

वाग्भट द्वितीय का काव्यानुशासन—इसका रचना-काल चौदहवीं शताब्दी है। मौलिकता की दृष्टि से इसमें भी कुछ विशेषता नहीं है।

विश्वनाथ महापात्र का साहित्य-दर्पण—इसका समय चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध है। काव्य-सिद्धान्तों के इस ग्रंथ का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। विश्वनाथ ने काव्य के लक्षण को—जो अत्यन्त लंबा और ढीला-ढाला हुआ जा रहा था—पुनः संयत और चुस्त किया। रस को ही इन्होंने काव्य की आत्मा माना। अलंकार काव्य के सौंदर्य-विधान में सहायक भले हों, पर अनिवार्य नहीं है। यदि वाक्य अलंकार से हीन और दोष-युक्त भी हो, लेकिन उसमें रस और भावों का चमत्कार हो, तो वह वाक्य काव्य अवश्य है। यह रस-व्यंजना का विषय है, सहृदय संवेद्य है और लोकोत्तर आनन्द देनेवाला है। काव्य के अनेक विभाग कर उसका प्रथम विवेचन भी विश्वनाथ आचार्य ने किया। इनके महाकाव्य के लक्षण आज भी प्रसिद्ध

हैं।[1] साहित्य-दर्पण में ९० अलंकारों का निरूपण है, जिनमें १२ शब्दालंकार, ६९ अर्थालंकार और ७ रसवदादि अलंकार तथा संकर और संसृष्टि हैं।

अप्पय्य दीक्षित का कुवलयानन्द और चित्र मीमांसा—इनका प्रणयन सोलहवीं शताब्दी के लगभग हुआ है। ये दोनों अलंकार-ग्रंथ हैं। प्रथम में १२० अलंकारों का निरूपण हुआ है।

शोभाकर का अलंकार रत्नाकर—इसका समय भी सोलहवीं शताब्दी है। विषय अलंकार-निरूपण है।

यशस्क का अलंकारोदाहरण—( समय अज्ञात ) इसमें ६ नवीन अलंकारों की योजना है।

गोविन्द ठक्कुर का काव्य-प्रदीप—इसका समय भी सोलहवीं शताब्दी ( उत्तरार्द्ध ) है। काव्य के लक्षण के संबंध में इन्होंने मम्मट की आलोचना की। रस और अलंकार से रहित रहने पर भी शब्द और अर्थ को काव्य मानना इन्हें अभीष्ट नहीं। क्योंकि उस स्थिति में काव्य-चमत्कार का आधार क्या होगा? कम-से-कम रस या अलंकार में से एक का होना काव्य के लिये अनिवार्य है।

पंडितराज जगन्नाथ का रस गंगाधर—इसका समय सत्रहवीं शताब्दी है। इनमें काव्य के लक्षण, रस-सिद्धान्त आदि का तर्कपूर्ण विवेचन हुआ है। पंडितराज को मम्मट आदि का यह विचार कि शब्द और अर्थ दोनों काव्य हैं, स्वीकार नहीं। ये केवल शब्द को ही काव्य मानते हैं। 'साहित्यदर्पणकार' का 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' वाला सिद्धान्त भी इन्हें मान्य नहीं हुआ। अलंकार-प्रधान कविता और विशुद्ध प्रकृति चित्रण को ये काव्य मानते हैं। काव्य का कारण ये एकमात्र प्रतिभा को ही मानते हैं; पर यह प्रतिभा दो प्रकार की हो सकती है—प्रथम, दैवी प्रसन्नता के कारण उद्भूत और द्वितीय विलक्षण व्युत्पत्ति और निरन्तर काव्याभ्यास द्वारा जन्य।

---

१ सर्गबद्धो महाकाव्यो तत्रैको नायकः सुरः सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥ आदि पद्य। ३१५ और आगे।

काव्यों के इन्होंने चार भेद माने हैं—(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम और (४) अधम। अब तक केवल उत्तम, मध्यम और अधम तीन ही भेद किये गये थे। व्यंजना-प्रधान काव्य, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों स्वयं गौण रहकर किसी लोकोत्तर आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करें, उत्तमोत्तम है। जिस काव्य में व्यंग्य का चमत्कार आस्वादनीय होते हुए भी प्रधान न हो, उसे उत्तम काव्य मानना चाहिए। जिसमें वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ के चमत्कार से स्वतंत्र अथवा उत्कृष्ट हो, वह मध्यम काव्य है। और, जिस काव्य में शब्द का ही चमत्कार अत्यन्त प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार उसका साधक होकर उपस्थित हो, उसे अधम काव्य समझना चाहिए। पंडित-राज ने रस के स्वरूप का भी विवेचन किया है और इस संबंध में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों पर भी प्रकाश डाला है। इसमें ७० अलंकारों (?) का निरूपण भी हुआ है।

पंडितराज जगन्नाथ के बाद संस्कृत में कोई उल्लेखनीय लक्षण-ग्रंथ नहीं प्राप्त होता। पर उसी समय के लगभग हिन्दी साहित्य का रीतिकाल आरंभ हो जाता है और पद्य में ही रस और अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले अनेक ग्रंथों का प्रणयन होता है।

हिन्दी के रीति-ग्रंथ—सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी में काफी काव्य-सामग्री इकट्ठी हो चुकी थी, जिसके आधार पर स्वतंत्र रूप से कविता के लक्षण बनाये जा सकते थे। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा और जायसी की कविताओं ने हिन्दी-काव्य को काफी ऊँचा उठा दिया था। साथ ही विषय और शैली की दृष्टि से उसमें विविधता की भी कमी नहीं रही थी।

फिर भी जब हिन्दी के रीति-ग्रंथ बने, तो उनमें स्वतंत्र काव्यानुशीलन द्वारा मौलिक सिद्धान्तों की उद्भावना के बदले संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों के आधार पर, कुछ परम्परानुमोदित बातों को फिर से दुहरा देना ही हिन्दी के रीति-ग्रंथकारों को सुगम प्रतीत हुआ। इन ग्रंथों में तार्किक विवेचन और मौलिक चिन्तन का प्रायः अभाव है। इनमें दो बातें बाधक हुई। प्रथम, गद्य

के अभाव के कारण इन्हें उदाहरणों के साथ अपने लक्षण भी पद्य में ही प्रस्तुत करने पड़े। पद्य-परिपाटी की सीमा-शृंखलाओं के भीतर तर्कपूर्ण शैली पर खंडन-मंडन अथवा विषय के वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन के लिये अवकाश नहीं मिला। द्वितीय, उस युग के दरबारी वातावरण ने शास्त्रीय अनुसंधान और विचार-गांभीर्य के बदले क्रीड़ा-कौतुक और वैचित्र्य के प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। फलतः रीति-कवियों का उद्देश्य रीति-ग्रंथों द्वारा काव्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन अथवा कविता के संबंध में सत्य की खोज नहीं हुआ, वरन् वाक्वैचित्र्य के प्रदर्शन द्वारा सस्ता मनोरंजन ही अधिकांश में उनका ध्येय बन गया।

संस्कृत में कवि और आचार्य का भेद बराबर बना रहा, हिन्दी में "यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक ही दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ।"[1] जहाँ प्राचीन आचार्यों से मतभेद भी प्रकट किया गया है, वहाँ भी उसकी पुष्टि तर्क-पद्धति पर नहीं की गयी है। पर अधिकतर तो इनमें पृष्ठपोषण मात्र ही है। यह तो हुई मौलिकता तथा विचार-गांभीर्य की बात। विषय-क्षेत्र की दृष्टि से भी हिन्दी के ये ग्रन्थ अपर्याप्त रहे। पहले तो काव्य के अंतर्गत केवल श्रव्य-काव्य को ही लिया गया है, दृश्य-काव्य छूट गया है। फिर शब्द-शक्ति के विवेचन की भी अवहेलना की गयी है। नायिका-भेद को अवश्य जरूरत से ज्यादा तूल दिया गया। अतः भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में हिन्दी रीति-ग्रंथों की देन महत्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी काव्य-शास्त्र आज भी मुख्यांश में संस्कृत काव्य सिद्धान्तों का ही सुरलेखल बना है।

---

१ हि० सा० का इतिहास—रा० च० शुक्ल, पृ० २८२.

हिन्दी के कुछ प्रमुख रीति—ग्रंथकार कवियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) केशव दास ( जन्म सं० १६१२ )—यद्यपि इनके "पहले सं० १५९८ में कृपा राम थोड़ा रस-विवेचन कर चुके थे" और मोहनलाल मिश्र 'शृंगार सागर' करन से कवि 'कर्ण भरण' श्रुति भूषण और 'भूप-भूषण' नामक तीन अलंकार-ग्रंथ लिख चुके थे फिर भी "संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यांगों का परिचय' का प्रथम श्रेय केशवदासजी को ही है।

'कवि प्रिया' में इन्होंने अलंकारों का विवेचन किया है पर इनके अलंकारों के लक्षणों का हिन्दी में सामान्य रूप से मान्य लक्षणों से पूर्ण तादात्म्य नहीं। फिर भी मौलिक विवेचन का अभाव-सा ही है। अधिकतर सामग्री थोड़े हेर-फेर के साथ संस्कृत आचार्यों से ली गयी है। 'रसिक प्रिया' में रस-विवेचन हुआ है।

(२) चिन्तामणि त्रिपाठी ( जन्म सं० १६६६ )—इनके लक्षण-ग्रंथ ये हैं—कवि कुल कल्पतरु, काव्य-विवेक और काव्य-प्रकाश।

(३) विहारी ( जन्म सं० १६६० )—'विहारी सतसई' इनका शृंगार रस-संबंधी प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी अनेक टीकाएँ हुई।

(४) मतिराम ( जन्म सं० १६७४ )—रचनाएँ—'छन्द-सार', 'रस-राज', 'साहित्य-सार', 'लक्षण-शृंगार', 'ललित-ललाम' और 'मतिराम-सतसई'।

(५) भूषण ( जन्म सं० १६७० )—रचनाएँ—'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल दसक'। इनमें प्रथम अलंकार-ग्रंथ है।

(६) देव ( जन्म सं० १७३० )—इनकी लिखी पुस्तकों की संख्या ५२ अथवा ७२ कही जाती है। कुछ के नाम ये हैं—भाव-विलास, अष्टयाम, रस-विलास, काव्य-रसायन, रसानन्द-लहरी, प्रेम-दीपिका और नख-शिख प्रेम-दर्शन।

(७) भिखारी दास ( जन्म संवत ··· )—प्रमुख रचनाएँ—रस सारांश, छंदोर्जन पिंगल, काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय, छन्द-प्रकाश और अमर-प्रकाश।

(८) पद्माकर भट्ट ( जन्म-संवत् १८१० )—प्रसिद्ध ग्रंथ—जगद्विनोद,

पदमाभरण और गंगा लहरी। "मतिराम के 'रस-राज' के समान पद्माकरजी का जगद्विनोद भी काव्य-रसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठ-हार रहा है। वास्तव में यह शृंगार-रस के सार-ग्रंथ-सा प्रतीत होता है"।[1]

रीतिकाल के उपरान्त भरतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक शीर्षक निबंध में दृश्य-काव्य पर थोड़ा विवेचन किया, जो मौलिक नहीं कहा जा सकता। काव्य-शास्त्र या सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बहुत दिनों तक कोई काम नहीं हुआ। हाँ, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'रसकलश' में रीतिकालीन परिपाटी पर रस और रसांगों का विवेचन अवश्य किया। भेद इतना ही रहा कि इस ग्रंथ में लक्षण गद्य में है और कुछ आधुनिक नायिकाओं की वृद्धि हुई है। ( देश-सेविका, समाज-सेविका आदि )।

विशुद्ध गद्य में सैद्धान्तिक आलोचना या काव्य-शास्त्र के ग्रंथ प्रायः संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद के रूप में आये। पर कुछ ग्रंथों में संस्कृत वाङ्मय से उपलब्ध सामग्री के अलावा भी उपकरण एकत्रित हुए हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन'—सन् १९१०-२१ में पाश्चात्य सिद्धान्तों को ही दृष्टि में रखकर लिखा गया। कविता, कहानी, नाटक, निबंध आदि शीर्षकों के अन्तर्गत इन विषयों के सिद्धान्तों का वर्णन ग्रंथ का लक्ष्य है। काव्यादि के शरीर विज्ञान का विश्लेषण प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से हुआ है। लेकिन काव्य-सिद्धान्तों को किसी कसौटी पर कसकर उनके औचित्य की परीक्षा का प्रयास नहीं है। सिद्धान्तों के वर्णनमात्र हैं। उनकी आलोचना नहीं। इनके 'रूपक-रहस्य' में दृश्य-काव्य के सिद्धान्तों का वर्णन है।

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'आलोचनादर्श'—इस पुस्तक में आलोचना के संक्षिप्त इतिहास एवं आलोचना-शास्त्र का विवेचन है। काव्यादि के सिद्धान्तों पर प्रकाश नहीं डाला गया है, आलोचना का शास्त्रीय वर्गीकरण तथा विश्लेषण ही ग्रंथ का लक्ष्य है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रा० चं० शु०

श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के 'साहित्य-दर्शन' और लक्ष्मी नारायण सुधांशु के जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त—इसमें काव्य-सिद्धान्तों के व्यावहारिक पहलू पर बहुत कुछ कहा गया है। दूसरी पुस्तक में काव्यालोचन के मूल तत्वों को लेकर जो विवेचना हुई है, वह मार्मिक और गवेषणापूर्ण है।

सैद्धान्तिक आलोचना से संबंध रखनेवाली अनेक पुस्तकें निकल रही हैं। उपन्यास-कला, कहानी-कला, प्रभृति साहित्य के अंग-विशेष पर सीमित रूप से प्रकाश डालनेवाले ग्रंथों की वृद्धि हो रही है। पर संपूर्ण काव्य शास्त्र का विवेचन करनेवाला कोई एक ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रस्तुत नहीं हो पाया है जो मौलिक होने के साथ ही साथ साहित्य के विभिन्न तत्वों की गंभीर छान-बीन करे। साहित्य के मर्म को जाननेवाले और समझ सकने की क्षमता रखनेवाले ऐसे शास्त्रज्ञ ही थोड़े हुए हैं। मौलिक-चिंतन की दृष्टि से पं० रामचन्द्र शुक्ल ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने काव्य-सिद्धान्तों के संबंध में गहन-चिंतन और स्वाध्याय के फलस्वरूप अपने विचार निर्णीत किये।

## पं० रामचन्द्र शुक्ल के काव्य-सिद्धान्त

पं० रामचन्द्र शुक्ल—इन्होंने कोई एक पुस्तक काव्य-सिद्धान्तों पर नहीं लिखी। इस संबंध में इनके विचार 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' 'चिन्तामणि', 'काव्य में रहस्यवाद' तथा सूर, तुलसी, जायसी की समीक्षाओं में बिखरे मिलते हैं। शुक्लजी के मतानुसार भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता कवि की प्रधान विशेषता है। कवि का हृदय जनसामान्य के हृदय से अधिक संवेदनशील, बिम्बग्राही और तीव्रतम अनुभूति की क्षमता रखनेवाला होता है। पर इसके साथ ही कवि में कल्पनाशक्ति की भी अपेक्षा रहती है।[1] इसी के सहारे उसका विशाल अन्तःकरण विभिन्न मानव-परिस्थितियों में अपने को डालकर तदनुरूप भावनाओं का अनुभव करने में समर्थ होता है। शुक्लजी के अनुसार जगत् और जीवन के संबंध में व्यक्ति की विविध

---

१ काव्य में रहस्यवाद—पं० रा० चं० शु०, पृ० ७६

नहीं। रसभूमि में इसका स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक रमणीय और मधुर मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अंतर्दशा ( mood ) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और-और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी 'वाद' के साथ संबद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धांत-मार्ग ( creed ) स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं।"[1] विभाव अथवा काव्य-विषय की दृष्टि से कवियों की काव्य-दृष्टि (१) कहीं नर-क्षेत्र के भीतर ही रहती है, (२) कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और (३) कहीं समस्त चराचर के। पर काव्य दृष्टि की व्यापकता के अनुपात से ही कविता की श्रेष्ठता मापी जा सकती है। अतः तृतीय कोटि का काव्य श्रेष्ठतम होगा।

कविता का उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना है। अतः आलंबन के ऐसे रूप या व्यापारों का चुनाव भी आवश्यक हो जाता है, जो अभीष्ट दिशा में सर्वाधिक प्रभावोत्पादक हों।

प्रभावोत्पादन-कौशल के संबंध में शुक्लजी ने कहा है—"गंभीर चिन्तन से उपलब्ध जीवन के तत्त्व सामने रखकर जब कल्पना मूर्त विधान में और हृदय भाव-संचार में प्रवृत्त होते हैं तभी मार्मिक प्रभाव उत्पन्न होता है।"[2] इस प्रभाव की उत्पत्ति में वाग्वैचित्र्य ( अथवा चमत्कारवाद ) सहायक हो सकता है, यदि वह भाव या अनुभूति द्वारा प्रेरित हो, पर अनिवार्य नहीं है। प्रभावोत्पादकता तो मुख्यतः अनुभूति की तीव्रता और प्रकार पर अवलम्बित है। चमत्कार-प्रधान काव्य "जिसे सुनने से मन किसी भाव या मार्मिक भावना ( जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि ) में लीन न होकर एक-बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे," शुक्लजी

---

१ काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११५

२ प्रवेशिका—'शेष स्मृतियाँ', पृ० १४

के अनुसार काव्य नहीं है। वह तो 'सूक्ति' है। और इस सूक्ति-काव्य से भाव-काव्य बहुत अधिक श्रेष्ठ है।

काव्य के दो रूप हैं—प्रबंध-काव्य और मुक्तक। शुक्लजी के शब्दों में "प्रबंध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य रहता है।"[१] प्रबंध-काव्यों में ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथा-वस्तु ग्रहण करने के संबंध में उनका विचार है कि "कल्पना के उस स्वरूप की सत्य-मूलक सजीवता और मार्मिकता का अनुभव करके ही संस्कृत के पुराने कवि अपने महाकाव्य और नाटक इतिहास-पुराण के किसी वृत्त का आधार लेकर रचना करते थे।" उससे उनके Classical प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। फिर भी इस संबंध में उन्होंने निश्चित-विचार नहीं किये हैं। शुक्लजी के विचार में प्रबंध-काव्य में भारी बात है संबंध-निर्वाह।[२] प्रासंगिक कथा-वस्तु का आधिकारिक कथा-वस्तु की सहायिका होना आवश्यक है। "घटना-प्रधान प्रबंध-काव्य में उन्हीं वृत्तान्तों का सन्निवेश अपेक्षित होता है जो उस साध्य 'कार्य' के साधन-मार्ग में पड़ते हैं अर्थात् जिनका उस कार्य से संबंध होता है।"[३] पर इतिवृत्त मात्र के वर्णन से रस की अनुभूति नहीं होती। अतः कथा-प्रसंग के भीतर मर्मस्थलों की पहचान और वहाँ इतिवृत्त का विराम रसोद्रेक के लिए आवश्यक है। "जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्म-स्पर्शी स्थल हैं, जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिए की काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है। इन रसात्मक स्थलों को लाने के लिये कवि-कर्म अपेक्षित होता है।"[४] इन मार्मिक स्थलों के समावेश के लिये कथावस्तु में विराम लाना आवश्यक है। पर ये विराम केवल पांडित्य-प्रदर्शन आदि के लिये नहीं हों।

---

१ जायसी ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ६३
२ ,, ,, ,, ६४ ( भूमिका भाग )
३ ,, ,, ,, ६६
४ ,, ,, ,, ६१

वस्तु-व्यापार-वर्णन के संबंध में भी केवल वस्तुओं की गणना कराने अथवा उनका पांडित्यपूर्ण परिचय देने के पक्ष में वे नहीं हैं, वरन् संश्लिष्ट चित्रण द्वारा विम्ब ग्रहण कराने को आवश्यक मानते हैं।

भाव-व्यञ्जना के संबंध में दो बातों पर विचार करना शुक्लजी आवश्यक बतलाते हैं—"(i) कितने भावों और गूढ़ मानसिक विचारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है। ii) कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है।"[1]

शुक्लजी के मत में कथोपकथन को बहुत ही भड़कीला और आकर्षक बनाने के प्रयास की अपेक्षा "कथा-प्रवाह को मार्मिक बनाने का प्रयत्न" करना अधिक उचित है।

मुक्तक-काव्य पर शुक्लजी ने बहुत थोड़ा विचार किया है। उनके अनुसार मुक्तक का संबंध प्रबंध-काव्य की तरह जीवन के संपूर्णतर से नहीं होता वरन् जीवन का एक खण्ड-चित्र ही उसमें चित्रित होता है। इसके अलावा प्रबंध काव्य में कथा-प्रवाह का प्राधान्य रहता है तो मुक्तक में भावानुभूति के उत्कर्ष का।

शुक्लजी ने एक मौलिक पद्धति पर काव्य को दो अन्य श्रेणियों में बाँटा है—(क) आनन्द की साधनावस्था या प्रयोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले, जैसे पद्मावत, रामचरित-मानस आदि।

(ख) आनन्द की सिद्धावस्था या उपयोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले, जैसे सूर-सागर, बिहारी-सतसई आदि।

दोनों में शुक्लजी ने प्रथम प्रकार के काव्य को श्रेष्ठ माना है। जड़-चेतन प्रकृति से काव्य का घनिष्ठ संबंध शुक्लजी मानते हैं। अपने द्वारा निर्मित सभ्यता के कृत्रिम घेरे में रहकर मनुष्य आज भले ही प्रकृति को भूल जाय, पर प्रकृति मानव की आदिम सहचरी है और अनन्त काल के साहचर्य के कारण मानव की अन्तरचेतना में प्रकृति-प्रेम के संस्कार बद्धमूल हो चुके हैं।

१ आदर्श ग्रंथावली, पृ० १२३

अतः प्रकृति का एक सामान्य दृश्य—झरना, पहाड़, वनस्थली, तारामंडित-नैश गगन रेल, तार, कल-कारखाने आदि वर्तमान सभ्य जगत् के समस्त कृत्रिम उपादानों से मानव की भावनाओं का उद्बोधन कर उसे रसानुभूति प्रदान करने में अधिक समर्थ है।[1] इतना ही नहीं, 'सभ्य जगत्' की विभीषिकाओं से विदग्ध आकुल मानव-हृदय की प्यास प्रकृति-सहचरी के प्रेमामृत से ही मिट सकती है। अतः प्रकृति का महत्व कविता में बहुत अधिक है।

उद्देश्य—अन्य कलाओं की तरह शुक्लजी काव्य-कला को भी सोद्देश्य मानते हैं। कलावादियों का यह कथन कि 'कला कला के लिये है' उन्हें मान्य नहीं। इस संबंध में कविता में प्रभाव-प्रेषणीयता (Communicability of impression) को शुक्लजी आवश्यक मानते हैं। "एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।"[2] इस लक्ष्य की पूर्ति के के लिये दो बातें अपेक्षित हैं—(१) कवि की अनुभूति उसकी व्यक्तिगत वेदना

---

१ चिन्तामणि—पृ० २६२

२ काव्य में रहस्यवाद—पृ० १०४ तुलना कीजिए—(१) "Art is a human activity consisting in this that one man consciously by means of certain external signs hands on to others feelings he has lived through and that others are infected by those feelings and also experience them—" Tolstoy 'What is Art'?

(२)....Literature communicates experience: that is to say the experience that lived in the author's mind must live again in the readers' mind......Abercrombie—Principles of Literary Criticism.

का संबंध छोड़कर 'लोकसामान्य भाव भूमि' पर स्थित हो। (२) उसकी साधारणीकृत भावनाओं के उपयुक्त और समर्थ भाषा का प्रयोग किया जाय। कविता का लक्ष्य रस-दशा की प्राप्ति है और रस-दशा हृदय की मुक्तावस्था को कहते हैं—हृदय की उस अवस्था को, जब मानव और मानव के बीच आत्मीयता, सहानुभूति और प्रेम का नैसर्गिक संबंध स्थापित हो जाय, जब मानव अपने व्यक्तित्व के संकुचित सीमा का उल्लंघन कर विश्व की समग्र विराट्ता को अपने अन्तस् में लीन कर ले। अतः कविता का लक्ष्य शुक्लजी के अनुसार केवल मनोरंजन न होकर, हृदय के भावों का उद्बोधन, परिष्कार और प्रसार द्वारा मानवात्मा को भौतिक क्षुद्रताओं से मुक्त कर असीम आनन्द की सृष्टि करना है।[1] कुछ प्राचीन आचार्यों की भाँति शुक्लजी भी काव्य का लक्ष्य 'रसानुभूति' मानते हैं। पर उनकी 'रसानुभूति' की व्याख्या भिन्न है। 'रसानुभूति' को वे लोकोत्तर आनन्द या ब्रह्मानन्द सहोदर नहीं कहते, वरन् हृदय की उक्त मुक्तावस्था का पर्याय मानते हैं।

कविता का लक्ष्य रस-बोध होने के कारण भाव को ही शुक्लजी ने साध्य माना है। उसे कविता का अन्तःपक्ष कह सकते हैं। उसके बाह्य पक्ष में जो बातें आती हैं, जैसे कल्पना, अलंकार, भाषा और छंद, उन्हें साधन के रूप में ही अपनाया जा सकता है, कविता के साध्य के रूप में नहीं।

कल्पना—कल्पना कविता का अनिवार्य साधन है, पर है साधन ही। कल्पना का साध्य है भावसंचार। "मनोविज्ञान के अनुसार भाव कोई अकेली वृत्ति नहीं; एक वृत्तिचक्र ( system ) है, जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान ( Cognition ), इच्छा या संकल्प ( Couetion ), प्रवृत्ति ( Tendency ) और लक्षण ( Symptom )—ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रस-निरूपण में जो 'विभाव' कहा गया है वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है जो भाव का संचार करता है। कवि और पाठक दोनों के मन में

---

१ चिन्तामणि—पृ० २११ और आगे।

कल्पना कुछ मूर्त रूप या आलंबन खड़ा करती है जिसके प्रति किसी भाव का अनुभव होता है।

उस भाव की अनुभूति के साथ-साथ आलंबन का बोध या ज्ञान भी बना रहता है। इस प्रकार कल्पना का काम है अभीष्ट भाव-संचार के उपयुक्त मूर्त्त आलंबन प्रस्तुत करना। और इसी हेतु साधन के रूप में कल्पना अनिवार्य है। ( कल्पना के संबंध में उपर्युक्त विचारों के कारण ही बेनीडिटा क्रोसे (Beneditta Croce) का अभिव्यञ्जनावाद उन्हें ग्राह्य नहीं है। )

अलंकार— अलंकार काव्य का साधन होते हुए भी अनिवार्य नहीं है। "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं का रूप, गुण और क्रिया का अधिक अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली उक्ति ही अलंकार है।"[1] अलंकार वस्तु की रमणीयता बढ़ाने में सहायक मात्र है—उस रमणीयता का जनक नहीं है। "पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है।"[2] पर अलंकारों की सहायता के बिना भी रस, भावादि की स्थिति के कारण काव्य में रमणीयता रह सकती है।

भाषा—भाषा भी कविता का माध्यम होने के कारण कम महत्व नहीं रखती। इस संबंध में शुक्लजी कहते हैं—"अगोचर बातों या भावनाओं को भी जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त्ति-विधान के लिये वह भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लेती है।"[3] जैसे 'समय बीता जाता है' के बदले 'समय भागा जाता है' कहना अधिक काव्योचित है; क्योंकि इससे समय अधिक स्थूल और गोचर रूप में प्रस्तुत होता है। अभिधा से अभिव्यक्त अर्थ की प्रतीति भी व्यञ्जना और लक्षणा में होती है। लक्षणा और व्यञ्जना के विषय में शुक्लजी का यह कथन ज्ञातव्य है—"अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।" इस प्रकार

---

१ गोस्वामी तुलसीदास—पृ० १६१ २ चिन्तामणि—पृ० २५१
३ चिन्तामणि —पृ० २३८

काव्यगत रमणीयता वाच्यार्थ ही में रहती है, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तो केवल उसी वाच्यार्थ के साधक हैं। इस स्थल पर प्राचीन आचार्यों से शुक्लजी के विचार मेल नहीं खाते।

काव्य में अगोचर भावनाओं को गोचर रूप देने के लिये एक दूसरा साधन भी है। "भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति-संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापारसूचक शब्द अधिक रहते हैं।"[1] सामान्य-अर्थ-बोधक शब्दों में विशिष्ट-मूर्त्ति-विधान की क्षमता अत्यन्त अल्प होती है। उदाहरण के लिये अत्याचार के स्थान पर 'गला घोंटना' शब्द का प्रयोग अधिक काव्योचित होगा। अथवा 'तुमने उससे विवाह किया है' कहने से अधिक प्रभावोत्पादक होगा यह कहना कि 'तुमने उसका हाथ पकड़ा है।" "क्योंकि इन विशिष्टार्थक पदों अथवा वाक्यों में आलंबन को मूर्त्त करने की अधिक क्षमता है। कविता की भाषा में इसके अलावा नाद-सौन्दर्य पर भी ध्यान रखना होता है। श्रुति कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्त-विधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद-सौंदर्य साधन के लिये ही है।"[2] "नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।"[3] एक और विशेषता काव्य-भाषा में अपेक्षित है। व्यक्तिवाचक नामों के प्रयोग में व्यक्ति के प्रसंग में अपेक्षित गुणों या विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही नामों का चुनाव होना चाहिए। जैसे कृष्ण के अनेक नामों में से विपत्ति-काल में 'मुरारि' कहना अधिक उपयुक्त है, 'गोपिकावल्लभ' कहना नहीं।[4]

छन्द—शुक्लजी के मतानुसार छन्द कविता के लिये आवश्यक है, पर छन्द-योजना में नवीनता और मौलिकता का भी अवकाश तो है ही। "छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों का योग है, जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं, जो

---

१ चिन्तामणि—पृ० २२९ २ चिन्तामणि—पृ० २४४

३ चिन्तामणि—पृ० २४५ ४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—शिवनाथ, पृ० ८५

किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।.........छन्द द्वारा होता यह है कि इन ढाँचों की भित्ति और इनके योग की भित्ति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती हैं, जिससे वह भीतर-ही-भीतर पढ़नेवाले के साथ-ही-साथ उसके नाद की गति में योग देता चलता है।.....अतः छन्द के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।"[1]

४

# कुछ विशिष्ट काव्य-प्रवृत्तियों के सैद्धान्तिक रूप

(१) छायावाद—रहस्यवाद—छायावाद और रहस्यवाद एक नहीं हैं। दोनों में कुछ अन्तर है। फिर भी आधुनिक हिन्दी-कविता में दोनों साथ-साथ विकसित हुए; द्विवेदी-युग की अतिशय इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में। अतः दोनों में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, अयथार्थ और अमूर्त्त की ओर प्रवृत्ति तथा समाज के चित्रण की अपेक्षा व्यक्ति की अनुभूतियों का प्राधान्य है।

दोनों के इतिहास में और रूप-रेखा में जो अन्तर है; वह दोनों के पृथक्-पृथक् विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

## छायावाद

यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक नवीन है। पुराने ईसाई सन्तों के भजन या गीतों में जो आध्यात्मिक रूपकात्मक आभास पाया जाता था, उसे 'छाया' या Phantastuates कहते थे। उसी के अनुकरण पर ब्राह्मसमाज के प्रभाव से बंगला में इस प्रकार के गीतों की रचना होने लगी जिसमें वर्ण्यवस्तु के अलावा किसी अन्य अर्थ की ओर रहस्य-भरे संकेत होते थे।

१ काव्य में रहस्यवाद—पृ० १३५

बंगला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के प्रभाव से हिन्दी में भी यह पद्धति आयी और इसके विरोधियों ने इसका उपहास करने के लिये इसे छायावाद कहा। पीछे यह नामकरण सर्वमान्य हो गया। जयशंकर 'प्रसाद' छायावाद-युग के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। उनकी 'इन्दु' मासिक पत्रिका में इस प्रकार की रचनाओं के प्रथम दर्शन हुए। प्रसादजी की काव्य-पुस्तकें 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी'; सुमित्रानन्दन पन्त की 'वीणा', 'गुञ्जन' और 'पल्लव'; महादेवी वर्मा की 'नीहार', रश्मि', नीरजा, 'सांध्यगीत' (=यामा) और 'दीपशिखा'; सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'अनामिका' और 'गीतिका'; रामकुमार वर्मा की 'चित्ररेखा', 'निशीथ' और 'चन्द्रकिरण' आदि में हम छायावाद की प्रवृत्ति पाते हैं।

इन रचनाओं को दृष्टिपथ में रखते हुए छायावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

(१) विषय-पक्ष (क) आत्मनिष्ठता ( Subjectivity )—छायावाद का विषय संसार नहीं, समाज नहीं, कवि का अपना हृदय है। छायावाद का कवि वहिर्जगत् की नहीं, अन्तर्जगत् की तसवीर खींचता है। वाह्य विश्व या मानवेतर प्रकृति ( जड़ अथवा चेतन ) उसकी कविता में आती है तो उसके हृदय का अंग बनकर, उसकी भावना, कल्पना और अनुभूति में स्नात बनकर। अपनी अंतः प्रकृति पर वाह्य प्रकृति की प्रतिक्रिया को ही उसकी काव्य-दृष्टि महत्त्व प्रदान करती है।

(ख) अन्तः प्रकृति और वाह्य प्रकृति में तादात्म्य अथवा कवि के हृदय और विश्व के विविध दृश्यावलियों के बीच एक व्यापक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करना छायावाद की दूसरी विशेषता है। व्यक्ति प्रधान होने के कारण छायावाद के काव्य में मानव-जीवन से मानवेतर प्रकृति का महत्त्व कम नहीं है; क्योंकि मनुष्य की दृष्टि जब समाजनिष्ठ होती है तब मानव-लोक की विविध समस्याओं और विषमताओं के कोलाहल में प्रकृति के सूक्ष्म प्रभावों का आस्वादन करने का अवकाश ही उसे कहाँ मिलता? समाज से अलग, एकांत में ही मनुष्य-हृदय अपने प्रकृत सहचरों, नक्षत्र, निर्झर, कुसुम, ऊषा, संध्या

आदि के साथ हँस-रो सकता है। छायावाद के काव्य में इसी हेतु प्रकृ
मानव की सहचरी बनकर एक सजीव व्यक्तित्व धारण किये आती है औ
कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के विभिन्न अवयव मानो एक
महाप्राण के विविध प्रकाशन हैं। संक्षेप में छायावाद की दूसरी विशेषता हु
मानव और प्रकृति का अथवा ससीम और ससीम का अथवा आत्मा औ
आत्मा का संबंध। इसी सम्बन्ध की चरम उपलब्धि में सर्ववाद या सर्वात्मव
( Pantheism ) निहित है, अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ आदि कवियों
जिसका आभास हम पाते हैं।[1]

(२) शैली-पक्ष—(ग) छायावाद के काव्य में रागात्मक तत्व
अत्यधिक प्राधान्य होता है। कवि भावना के चरम उत्कर्ष-बिन्दु पर स्थि
होता है। बुद्धितत्त्व के अपेक्षाकृत अभाव के कारण भावतत्त्व के आतिश
के फलस्वरूप छायावाद का काव्य प्रगीत मुक्तकों में ही अभिव्यक्ति खोज
है। क्योंकि प्रबन्धात्मकता के लिये अनिवार्य बुद्धि-शृंखला के लिए इस
अवकाश नहीं। अतः कामायनी-जैसी प्रबन्ध-रचनाओं की अपे
पल्लव, लहर अथवा यामा में छायावाद अपनी सम्पूर्णता में अभि
अभिव्यक्त है।

(घ) छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अभिव्यञ्जना-शैल
विषय की सूक्ष्मता और अमूर्त्त-योजना के फलस्वरूप उस विषय
अभिव्यक्ति का ढंग भी उसी अनुपात में सूक्ष्म होना आवश्यक है। साधार
गद्य की भाषा से काम नहीं चल सकता। अतः छायावाद की काव्य-शैली
हम दो बातें अधिकतर देखते हैं—(i) लाक्षणिक वैचित्र्य और (ii) हृदय

---

१ प्रत्यक्ष जगत् में ससीम और ससीम के इस संबंध के अतिरिक्त परो
असीम के प्रति जिज्ञासा या कौतूहल का भाव भी कवि के हृदय में संभव है
काव्य में इसकी अभिव्यक्ति भी छायावाद के ही अन्तर्गत कही जाएगी
पंत की 'मौन निमंत्रण' शीर्षक कविता उदाहरण है।

प्रस्तुत भावनाओं के वर्णन के लिये प्रकृति आदि के क्षेत्र से चुने हुए अप्रस्तुत प्रतीकों की योजना।

लाक्षणिक पदों का प्रयोग अधिकतर निष्प्रयोजन नहीं होता। अभिधा से अवर्णनीय किसी गंभीर तथ्य की व्यञ्जना उसका अभीष्ट होता है। 'पंत' की कविताओं में लाक्षणिकता का प्राचुर्य दृष्टिगत है। जैसे—

देख वसुधा का यौवन - भार
गूँज उठता है जब मधु-मास।

इसमें मधुमास के गूँजने में ( वाच्यार्थ में ) असंगति होने के कारण इसका लक्ष्यार्थ 'मधुमास आने के कारण भौंरे का गूँजना' ग्रहण करेंगे। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में कार्य-कारण सम्बन्ध है। लक्षणा के प्रयोग का प्रयोजन भौंरे के गुञ्जन का मधुमास में प्राधान्य व्यञ्जित करना है। इसी प्रकार 'कौन तुम अतुल अरूप अनाम' में अल्पार्थक के स्थान पर निषेधार्थक शब्दों के प्रयोग में लक्षणा है।[1]

प्रतीकयोजना ( Symbolism ) साम्य के आधार पर होती है। ये साम्य तीन प्रकार के होते हैं—रूप-साम्य, गुण-साम्य, प्रभाव-साम्य। कहीं-कहीं यह साम्य इतना दूरारूढ़ और धुँधला हो जाता है कि पंक्तियों का अर्थ समझने में भी कठिनाई पड़ सकती है। इस प्रकार के प्रतीकों की योजना में अक्सर हृदय की कोई भावना या अनुभूति, उपमेय या प्रस्तुत और प्रकृति का उससे साम्य रखनेवाला कोई अवयव उपमान या अप्रस्तुत हुआ करता है। उपमेय ( प्रस्तुत ) का कथन नहीं होता, उपमान ( अप्रस्तुत ) के कथन द्वारा उसकी व्यञ्जना होती है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार में भी यही होता है, पर प्रतीक-पद्धति में उससे यह अन्तर है कि रूपकातिशयोक्ति अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वाले, पार्थिव क्षेत्र के हो सकते हैं; पर प्रतीक-पद्धति में प्रस्तुत सूक्ष्म और अगोचर अथवा मानव-भावनाओं से संबंध रखनेवाला तथा अप्रस्तुत उसके प्रतीक के रूप में गोचर प्रकृति के

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल

क्षेत्र की वस्तु होता है। कभी-कभी यह प्रतीक रूढ़ ( Conventional ) हो जाता है। इस प्रकार अंधकार और प्रकाश, दुख-सुख अथवा विरह-मिलन के प्रतीक हैं, वसन्त और पतझड़ यौवन और जरा के। इन्द्रधनुष मुस्कान का प्रतीक है और ओसकण आसुओं के।

उदाहरण--

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला—'प्रसाद'।

इसमें झंझा झकोर, बिजली और नीरदमाला क्रमशः हृदयगत उद्वेग, टीस या कसक और निराशा के प्रतीक हैं। "आभ्यांतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यन्जनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्यशैली की असली विशेषता है।"[1]

(ङ) छन्दों की दृष्टि से छायावाद का कवि स्वच्छन्द मनोवृत्ति का होता है। काव्यशास्त्र में वर्णित रूढ़िगत और परम्परानुमोदित छन्दों तक की उसकी रुचि की परिमिति नहीं होती, वरन् विषय की सूक्ष्मता-गंभीरता के अनुपात में वह अपने स्वतंत्र छन्दों की योजना करता है। छायावाद-युग में इसी हेतु अनेक नूतन छन्दों का आविष्कार हुआ। वस्तुतः इस दिशा में छायावादी कवि की दृष्टि प्रयोगात्मिका होती है।

## रहस्यवाद

जो दर्शन के क्षेत्र में तर्क और चिन्तन का सहयोग या अद्वैतवाद है वही कविता की रसभूमि में कल्पना और अनुभूति का सहारा ले भावात्मक रहस्यवाद का सूत्रपात करता है। कविता में निर्गुण असीम और अद्वैत ब्रह्म के साथ सगुण, ससीम और परिधिबद्ध जीवात्मा का माधुर्यभाव-भरित

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८०९

दाम्पत्य संबन्ध की स्थापना ही रहस्यवाद है। अतः रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा के बीच पति-पत्नी का संबंध होना चाहिए; आत्मा ससीम और परमात्मा निर्गुण एवं असीम होना चाहिए। छायावाद की समस्त विशेषताएँ रहस्यवाद में हो सकती हैं, पर रहस्यवाद होने के लिये उसमें एक और विशेषता होनी ही चाहिए—असीम और ससीम का प्रणय-सम्बन्ध। नहीं तो कवि की भावानुभूति छायावादात्मक तो हो सकती है, रहस्यवादात्मक नहीं। छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर इसी विशेषता को लेकर है। इस अन्तर की व्याख्या हम इस प्रकार भी कर सकते हैं कि जहाँ ससीम और ससीम या आत्मा और आत्मा का संबंध हो, वहाँ छायावाद और जहाँ ससीम और असीम या आत्मा और परमात्मा का संबन्ध हो, वहाँ रहस्यवाद मानेंगे। अथवा, छायावाद के अन्तर्गत कवि की अनुभूति मानव-हृदय और प्रकृति के विभिन्न अवयवों के बीच किसी व्यापक संबंध-सूत्र की खोज कर लेती है—उसे प्रतीत होता है कि कुछ है जो उसके ससीम हृदय का प्रकृति के अनन्त ससीम रूपों से तादात्म्य स्थापित कर रहा है, पर वह सत्ता क्या है, वह तत्व कौन-सा है और स्वयं उस व्यापक तत्त्व के साथ कवि का क्या संबंध है, यह वह ठीक-ठीक नहीं अनुभव कर पाता। उसकी अनुभूति जिज्ञासा के स्तर पर रहती है रागात्मक 'प्रेम' के स्तर पर नहीं; क्योंकि घनिष्ठ परिचय के अभाव में उस व्यापक सत्ता के साथ वह मधुर और निश्छल प्रेम संबंध नहीं जोड़ पाता, केवल उसे जानने की अभिलाषा या उत्कण्ठा अपने अन्दर अनुभव करता है।[1] पर रहस्यवाद में उसे 'एक' परोक्ष के साथ रागात्मक प्रणय-संबन्ध की स्थापना हो जाती है; क्योंकि परिचय इतना घनिष्ठ हो जाता है कि ज्ञाता और ज्ञेय का दुराव वेदना जनक प्रतीत होता है और जब तक दोनों मिलकर एक नहीं हो जाते यह वेदना—यह एक के साथ तदाकार होने के लिये दूसरे के हृदय में तड़प और आकुल पीर बनी रहती है।[2]

---

१ 'मौन निमंत्रण'—सुमित्रानन्दन पंत।

२ 'सांध्यगीत' की कविताएँ—महादेवी वर्मा।

कहा जा चुका है कि दार्शनिक होकर अद्वैतवाद का आधार लेकर ही रहस्यवाद की काव्यगत योजना होती है। अद्वैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म एक है और विश्व भर में केवल एक उसी का अस्तित्व है। उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है।[1] सब कुछ ब्रह्म ही है।[2] हम-आप सभी ब्रह्म हैं।[3] यह सर्वव्यापी ही नहीं, सब कुछ को आत्मसात करनेवाला ब्रह्म निर्गुण है। और यह जो सगुण धरातल पर अनेक नाम-रूपात्मक जगत हम देख रहे हैं वह माया है, मिथ्या है। तो माया? यह भी ब्रह्म की ही इच्छा है, उसी की चेतना का एक हल्का-सा स्पन्दन है। माया का पृथक और वास्तविक अस्तित्व नहीं। इस अ—द्वैत की भावना में—द्वैत ( Duality ) के नितान्त निषेध में केवल जिज्ञासा और ज्ञान की वृत्तियों के लिये अवकाश है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान का मतलब आत्मज्ञान तो हो सकता है; पर स्नेह और प्रेम नाम की हृदय की रागात्मिका वृत्तियों के लिये स्थान नहीं; क्योंकि प्रेम की सत्ता में व्यक्तित्वों का द्वैत निहित है। ज्ञाता और ज्ञेय की एकता तो समझी जा सकती है, पर प्रेमी और प्रेमिका के तादात्म्य ( सान्निध्य नहीं ) में विरह और मिलन की अनेक अवस्थाओं की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से देखने पर अद्वैतवाद और रहस्यवाद के बीच एक विरोधाभास की दीवार-सी खड़ी दीखती है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत प्रेमी और प्रेमिका, असीम और ससीम के अलग-अलग व्यक्तित्वों की धारणा के लिये अवकाश नहीं है और रहस्यवाद में इन अलग व्यक्तित्वों के बिना काम चल नहीं सकता। पर वस्तुतः कोई विरोध है नहीं। क्योंकि रहस्यवाद में ससीम और असीम के अलग व्यक्तित्वों की कल्पना केवल सापेक्ष धरातल ( Relative plane ) पर और तब तक के लिये की जाती है जब तक ससीम को यह अनुभूति नहीं प्राप्त हो गयी कि असीम उससे भिन्न नहीं, वह स्वयं असीम है। जीवात्मा भी

---

१ एकोऽहं द्वितीयो नास्ति। २ सर्वं खलु इदंब्रह्म।
३ अहं ब्रह्मोऽस्मि। तत्वमसि।

असीम ब्रह्म ही तो है, पर जब तक वह मायाबद्ध है वह अपने असल स्वरूप को भूले हुए है और तभी तक उसकी अनुभूतियाँ प्रेम और विरह की अनन्त दशाओं से अभिषिक्त हो रहस्यवाद की उद्भावना कर सकती हैं। स्वतः अद्वैतवाद की दृष्टि निरपेक्ष होने के कारण उसके अन्तर्गत ब्रह्म को अपने असली रूप में देखा जाता है, पर रहस्यवाद की दृष्टि की सापेक्ष्यता के फलस्वरूप उसके अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व-सा धारण कर लेता है, प्रेम करना और किया जाना, विरह में तपना आदि तो जिसके गुण कहे ही जा सकते हैं। फिर भी वह ब्रह्म रहता है निर्गुण ही, भक्तों की पुकार सुनकर नर-लीला करनेवाले राम और कृष्ण के समान सगुण नहीं। इस दृष्टि से रहस्यवाद के निर्गुण की भावना ( Concept ) भी सापेक्ष्य ही है। अद्वैतवाद और रहस्यवाद में यही थोड़ा-सा अन्तर भी है।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—

( १ ) भावात्मक, जिसके अन्तर्गत उपर्युक्त विशेषताएँ होती हैं और जो भावगत एवं माधुर्य-भाव-भरित होता है। असीम और ससीम के बीच प्रेम-भाव के सहारे तादात्म्य की स्थापना इसका उद्देश्य है।

( २ ) साधनात्मक जिसके अन्तर्गत हठयोग की क्रियाएँ और शारीरिक-आध्यात्मिक साधनाएँ आती हैं। साधनात्मक रहस्यवाद में इन्हीं यौगिक साधनाओं के सहारे आत्मा और परमात्मा का योग उपस्थित करने की चेष्टा की जाती है। भावात्मक रहस्यवाद का अंकुर वेदों एवं उपनिषदों में भी मिलता है। गीता के सांख्य-योग के अन्तर्गत पुरुष और प्रकृति की कल्पना में इसका रूप आता है। 'निराला' की "तुम और मैं" शीर्षक कविता छांदोग्योपनिषद् की कुछ पंक्तियों के हिन्दी रूपान्तर के समान है। हिन्दी में पहले रहस्यवादी कवि कबीर हैं जिनकी पंक्तियों में भावात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद की उपलब्धि है। उदाहरण—

भावात्मक—

(क) हरि मोर पिउ मैं
हरि की बहुरिया

(ख) कहे कबिरा ब्याहि चले हैं
पुरुष एक अविनाशी।

(ग) मन परतीति न प्रेम रस
ना इस तन में ढंग
क्या जानौं उस पीव से
कैसी रहसी रंग

(घ) यह तन जारौं छाड़ि कै,
लिखौं राम का नाउँ
लेखनि करौं करेक की
लिखि लिखि राम पठाउँ

(ङ) जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है
बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना,
यह तन कहे गियानी॥

(च) दरिआव की लहर, दरिआव है जी
दरिआव औ लहर में भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है,
कहो, दूसरा किस तरह होयम्॥

साधनात्मक—

(छ) गगन गरजि बरसे अमी,
बादल गहिर गँभीर।

चहुँ दिसि दमके दामनी
भींजै दास कबीर ॥

( ज ) रस गगन गुफा में अजर झरे ॥
विनु बाजा झनकार उठे, समुझि परे ।
जब ध्यान धरे ।

इन पंक्तियों में 'छ' और 'ज' में ब्रह्मरंध्र, अमृत वर्षा, ब्रह्मज्योति, अनहद नाद आदि का वर्णन है ।

कबीर के बाद जायसी भावात्मक रहस्यवादी हुए । पर जायसी का रहस्यवाद कबीर के समान भारतीय पद्धति का न होकर ईरानी पद्धति का है । भारतीय पद्धति यह है कि परमात्मा को पति और आत्मा को पत्नी मानते हैं, पर ईरानी पद्धति के अन्दर परमात्मा को ही पत्नी और आत्मा को पति माना जाता है । जायसी के 'पद्मावत' में पद्मावती परमात्मा का प्रतीक है और रत्नसेन साधक आत्मा का, जो परमात्मा की खोज में भटकता है ।

मीरा में कुछ साधनात्मक रहस्यवाद के छींटे हैं, पर सगुण ईश्वर की उपासना के कारण भावात्मक रहस्यवाद के लिये अवकाश नहीं है । रहस्यवाद का क्षेत्र निर्गुण ही होता है, चाहे निर्गुणता सापेक्ष ही क्यों न हो । इसके बाद आधुनिक काल के कवियों में रहस्यवाद की कविताएँ छायावाद के प्रायः सभी कवियों ने की हैं, पर एकमात्र रहस्यवाद की कवयित्री केवल महादेवी वर्मा ही हैं ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास की दृष्टि से रहस्यवाद छायावाद से कहीं अधिक प्राचीन और नितान्त भारतीय है ।

## प्रगतिवाद

प्रगति का शाब्दिक अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य मानव को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ावे, उसे प्रगतिशील साहित्य कहना चाहिए। प्रश्न किया जा सकता है कि मानव को व्यष्टि और समष्टि रूप से उन्नति-मार्ग पर अग्रसर करना तो साहित्यमात्र का उद्देश्य है। क्योंकि साहित्य का उद्देश्य मानव-अनुभूतियों और संस्कारों को परिष्कृत और उसकी वर्बर वृत्तियों का दमन कर उसके अन्दर देवत्व का विकास करना ही तो है। सामाजिक पक्ष में भी लें तो साहित्य मानव-जीवन के विभिन्न अंगों तथा मानव-लोक की विविध समस्याओं आदि का चित्रण-विश्लेषण कर समस्त मानव-जाति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना अपना लक्ष्य रखता है। तो फिर प्रगतिशील साहित्य और अप्रगतिशील साहित्य में अन्तर कहाँ रहा? शर्त यही है कि वह 'साहित्य' हो! ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। बात यह है कि 'प्रगतिशील' साहित्य की विशिष्टता उसके लक्ष्य के वैचित्र्य में नहीं निहित है, लक्ष्य तो सामान्य साहित्य और प्रगतिशील साहित्य दोनों का एक ही हो सकता है। इन दोनों में जो मौलिक अन्तर है, वह है दृष्टिकोण का। सभी साहित्य अन्ततः मानव का कल्याण—समस्त मानवता की उन्नति—अपना लक्ष्य बनायेंगे ही। पर साहित्य की प्रगतिशीलता इसमें है कि वह सचेत हो। सचेत रूप से, उत्साहपूर्वक, आग्रहपूर्वक उन्नति को अपनाने की व्यग्रता ही प्रगतिशील साहित्य के मूल में है। अतः प्रगतिशील साहित्यकार स्वान्तः सुखाय नहीं लिखेगा। वह जान-बूझकर समाजहिताय लिखेगा। गति और विश्राम का समुचित संतुलन ही यदि जीवन है, तो वह गति को अधिक प्रधानता देगा। गति, अर्थात् मानव के शरीर और मन की वह क्रियाशीलता जिससे इस विश्व में उसकी स्थिति अधिक सुदृढ़, अधिक प्रभुत्वशाली, अधिक व्यापक हो सके। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार तो मानव की स्थिति स्वतः विकासशील अथवा उन्नतोन्मुख है। पर प्रगतिशील साहित्यकार मानता है कि इस विकासवाद को मानव अपने प्रयत्नों द्वारा तीव्रतर कर सकता है; क्योंकि वह मानता है कि मनुष्य में इच्छा और ज्ञानपूर्वक कर्म करने की क्षमता और स्वतंत्रता है,

वह नियति द्वारा निर्धारित कर्म से परिचालित एक सजीव पुतला मात्र नहीं। उन्नति की ओर मानव की गति में यही तीव्रता लाने का प्रयास प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य है। यह प्रयास प्रकृत नहीं, मानवीय है। जैसे, भौतिक विज्ञान के सहारे मानव-जीवन और मानव-जगत की समृद्धि का प्रयास। अतः इस उद्योग में ऐसी बाधाएँ आ ही सकती हैं और आती ही हैं जिनका जीवन की स्वाभाविक या प्राकृतिक गतिक्रम के अन्तर्गत कोई स्थान नहीं होता। अतएव इन बाधाओं को जीतने के लिये, विपरीत परिस्थितियों को विजित कर अपनी तीव्रतम सचेतन उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने के लिये मानव की चेतना के अन्तर्गत स्वाभाविक से कुछ अधिक उत्साह, कुछ अधिक साहसिकता, कुछ अधिक संघर्षशीलता का उद्बोधन आवश्यक है। अतः प्रगतिशील साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मानवात्मा को अजेय, मानव-हृदय को अक्षय, उत्साहपूर्ण और मानव-मस्तिष्क को सतत् जागरूक, मंथनशील और संघर्षशील बनाने का प्रयास करे। प्रगतिशील साहित्य में इसीलिये मानव की प्रतिष्ठा होती है, मानव की मानवता को महत्त्व प्रदान किया जाता है। साहित्य-साधना का केन्द्र-बिन्दु स्वयं मनुष्य और उसकी शक्ति है, ईश्वर नहीं, परोक्ष सत्ता नहीं, नियति नहीं, प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक रूप देवी-देवता नहीं (जैसा कि भारतीय और ग्रीक साहित्यों में हम देखते आते हैं)। साहित्य में मूल्यांकन भी मनुष्य की इन्हीं प्रगतिशील वृत्तियों (वीरता, संघर्ष, जागरूकता) के मानदंड से होगा; धन, आकस्मिक लौकिक प्रभुत्व, व्यावहारिक विद्या या शरीर-बल अथवा सौंदर्य के आधार पर नहीं (जैसा कि आधुनिक यूरोप की अधिकांश भाषाओं के साहित्य में हम पाते हैं। आधुनिक रूसी साहित्य अपवाद में है)। अतः प्रगतिशील साहित्य का मानव पहले शक्तिशाली, स्वतंत्र और स्वावलम्बी है, तब और कुछ। स्वतंत्र और स्वावलंबी का अर्थ यह नहीं कि मानव की विभिन्न इकाइयों अथवा व्यक्तियों में कोई परस्पर संबंध, कर्तव्य, उत्तरदायित्व अथवा अधिकार ही [illegible] मानव-जाति की सर्वांगीण यथेष्ट उन्नति के लिये जिस संघर्षशीलता

और अजेय क्रियात्मक गतिशीलता की आवश्यकता है, उसमें सामंजस्य ( Harmony ) अनिवार्य है। अतः मानव-मानव का परस्पर सहयोग, विभिन्न मानव-इकाइयों के व्यापारों में सामंजस्य आदि के ही बल पर मानवता की उन्नति के लिये व्यापक और अनंत कार्य-श्रृंखला को इस ढंग से आगे बढ़ाया जा सकता है जिसमें उन इकाइयों के उद्योग आपस में टकराकर नष्ट-प्रभाव न हो जायँ। क्योंकि मानव-मात्र के स्थायी कल्याण का तकाजा है कि मानव-उद्योगों में सामंजस्य हो, विश्व-भर के मानवों के चरम लक्ष्य में एकता हो। इसके लिये मानव के विभिन्न वर्ग, जाति, राष्ट्र और संस्कृतियों की टुकड़ियों में बँटे रहना घातक होगा। जब तक समस्त मानव-जाति अपने को एक ही नहीं अनुभव करेगी, जब तक विभिन्न वर्ग, जाति, राष्ट्र और संस्कृतियों की चेतना से हीन मानव-समाज की स्थापना नहीं हो जायगी तब तक मानवता की सर्वतोन्मुखी उन्नति के उद्योग का मार्ग स्वयं मानव द्वारा बाधित और अवरुद्ध होता रहेगा। इसीसे प्रगति-कामी साहित्य अखंड मानवता का निर्माण करना चाहता है। प्रगतिशील साहित्य की इन्हीं विशेषताओं को संक्षेपतः हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

( १ ) प्रगतिशील साहित्य व्यक्तिनिष्ठ नहीं, समाजनिष्ठ होगा।

( २ ) उसमें जागरूकता और सचेत चिन्तन (concious thinking) होगा। अतः यथार्थ को ठीक ठीक, उचित अनुपात में समझने की ओर उसकी अधिक प्रवृत्ति रहेगी, मनोरंजन के लिये 'स्वप्न और कल्पना' का प्रयोग अभीष्ट नहीं होगा। रहस्यवादवाली 'विस्मृति' और 'अवसाद' को भी स्थान नहीं मिलेगा ; क्योंकि प्रगतिवाद का उद्देश्य जगाना है, सुलाना नहीं। आदर्श का उपयोग अवाञ्छित और अनुचित यथार्थ को बदलने के लिये ही होगा।

( ३ ) प्रगतिशील साहित्य की मान्यता है कि ईश्वर अथवा अन्य मानवेतर सत्ताओं अथवा शक्तियों के अधीन मानव-संकल्प और व्यापार नहीं हैं, वरन् मानव स्वयं अपने भाग्य का विधाता, दुनिया का रूप बदल देने में समर्थ—अपनी इच्छाओं और कर्मों के अनुष्ठान में स्वतंत्र है। प्रगतिशील साहित्य में ईश्वर आदि के स्थान में मनुष्य को प्रतिष्ठा मिली है।

( ४ ) प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य मानवता की तीव्रतम उन्नति का उद्योग है।

( ५ ) यह तीव्रता का उद्योग निसर्ग सिद्ध नहीं होने के कारण और मानवेच्छाजन्य होने के कारण निसर्ग-नियमों से टकराकर अनेक बाधाओं का सूत्रपात कर सकता है। इन बाधाओं पर विजय पाने के लिये मानव-वृत्तियों को संघर्षशील अक्षय-आशा-उत्साह-मूलक और अजेय बनाना आवश्यक है। प्रगतिशील साहित्य के इसीलिये संघर्षशीलता, वीरता आदि आवश्यक अवयव हैं।

( ६ ) जीवन के उत्कर्ष का मापदंड यही अजेय वीरता अथवा मानवता की अन्य उन्नतिशील सतेज वृत्तियाँ होंगी, जैसे आत्मोत्सर्ग, विश्व-प्रेम, स्वतंत्र चिन्तन-शीलता आदि। मानव-जीवन के मूल्यांकन में ( जैसा आज बहुधा हम देखते हैं ) धन, लौकिक प्रभुत्व आदि इतर वस्तुओं का महत्त्व नहीं रहेगा।

( ७ ) मानवता के स्थायी और व्यापक कल्याण के लिये मानव-मात्र के सहयोग और उनके विविध उद्योगों में सामंजस्य के सहारे अखंड-मानवता का निर्माण आवश्यक है। इस वर्गादि भेदों से हीन मानवता के निर्माण के लिये प्रगतिशील साहित्य उद्योग करेगा।

यह प्रगतिवाद की प्रकृत व्याख्या हुई। हिन्दी में इस व्याख्या के अनुसार प्रगतिवाद की परिधि में दो-एक लेखक ही आ सकेंगे। कथा साहित्य के क्षेत्र में सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय' ( शेखर : एक जीवनी ) और काव्यक्षेत्र में 'दिनकर', 'अंचल' आदि इस कोटि के साहित्यकार हैं। सुमित्रानन्दन पन्त की इधर की कविताएँ ( युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या ) सैद्धान्तिक रूप से इस कोटि के उपयुक्त होते हुए भी रागात्मक तत्त्व ( रस ) के सम्यक् परिपाक के अभाव के कारण प्रगतिवाद के उदाहरण होने से भी वञ्चित हो जाती हैं। प्रगतिशील साहित्य होने के लिये साहित्य होना भी तो आवश्यक है, और साहित्य का प्राण है 'रस'। प्रगतिवाद में बुद्धितत्त्व को आदर का स्थान मिला अवश्य है, पर इसका उद्देश्य भाव

और बुद्धि का संतुलन ही है, अकेले बुद्धिमात्र की प्रतिष्ठा नहीं। केवल बौद्धिक होकर साहित्य (?) हृदय को स्पर्श करने में समर्थ नहीं होगा।

प्रगतिवाद के अब दूसरे, अर्थात् सीमित साम्प्रदायिक अर्थ को भी हम समझने की चेष्टा करें। आज प्रगतिवाद राजनीतिक, आर्थिक, समाजवाद के साहित्यिक संस्करण के रूप में भारत और यूरोप में अत्यधिक प्रचारित हो रहा है। इसमें मार्क्स और ऐंजिलस के सिद्धान्तों का लेनिन के माध्यम से प्रतिफलन और सफलता तथा उनकी नवीनता और संभावना-वैचित्र्य बहुत-से लेखकों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। हिन्दी में छायावाद के प्रतिक्रिया-रूप में जो प्रगतिवाद आया है, उसका रूप बहुत कुछ यही है। इसकी विशेषताओं पर हम थोड़ा दृष्टिपात करें। समाजवाद मूलतः एक आर्थिक समाज-व्यवस्था का सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत पूँजी के निराकरण का उद्योग निहित है। पूँजी व्यक्ति के हाथ में होने से समाज के अनुचित रूप से शोषण का साधन बनती है, और व्यक्तियों की धनलिप्सा के कारण उनके हितों के संघर्ष के फलस्वरूप भयानक नरसंहारकारी युद्ध तथा अन्य कुटिल विभीषिकाओं का सूत्रपात करती है। मानव का कल्याण इसीमें है कि व्यक्तिगत पूँजीवाद का नाश हो और उत्पादन तथा वितरण के साधन व्यक्ति के बदले समाज के नियंत्रण में हों। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सामाजिक क्रांति की आवश्यकता है और इस क्रांति के सूत्रधार होंगे श्रमिक और कृषक वर्ग, जो आज अपनी उत्पादित-संपत्ति के समुचित उपभोग से नितांत वंचित हैं। प्रोत्साहित क्रांति की सफलता पूँजीपतियों के हाथों से अर्थ-सत्ता और राज्य-सत्ता छीनकर श्रमिकों के हाथों में सौंप देगी और मानव द्वारा मानव का हिंसा, शोषण, उत्पीड़न और पद-दलन सदा के लिए मिट जायगा। दुनिया से गरीबी और गुलामी दूर हो जायगी तथा सुख-समृद्धि छा जायगी। यह क्रांति इतिहास-प्रसूत शक्तियों के प्रतिफलन-रूप में अवश्यम्भावी है। दुनिया की कोई ताकत इसे रोक नहीं सकती। मानव अपने प्रयास से इस क्रांति को निकट ला सकता है। सामान्यतः समाजवाद का तत्त्व इन्हीं विचारों में निहित है। प्रगतिवाद इसी समाजवादी उद्देश्य—

सामाजिक क्रांति—को निकट लाने का प्रयास करता है। दलितों के हृदय में पूँजीपति मालिकों के प्रति विद्रोह की भावना भरना, श्रमिकों में वर्ग-चेतना भरना और पूँजीवादी वर्ग के हितों से श्रमिक वर्ग के हितों के संघर्ष के प्रति उन्हें जागरूक बनाना, उनमें नवीन आशा, नवीन उत्साह और मानवोचित अधिकारों की प्यास जगाना आदि इस उद्देश्य की सफलता के साधन हैं। प्रगतिवादी साहित्य इसी उद्देश्य से गरीबी, बेबसी आदि का करुण-चित्रण कर पूँजीवाद के अभिशापों पर नूतन प्रकाश डालता है। प्रगतिवाद के कवि की आँखें मलयज-सेवित कुसुम-कलियों की नीड़ में सौन्दर्य की खोज नहीं करती, वरन् इन्हीं दीन श्रमिकों के विशाल जन-समुदाय को अपनी अतुल शक्ति की पहचान करा उन्हें उद्बुद्ध करने का प्रयास करती है। इस दृष्टि से वर्ग-संघर्ष, श्रमिक वर्ग की करुण अवस्था का चित्रण, पूँजी-वादियों के प्रति क्रोध और घृणा की भावना का संचार, वर्तमान रूढ़ि-जर्जर कठोर समाज-व्यवस्था के विध्वंस की प्रकृति और एक अधिक उन्नत, समताशील एवं न्याय-सम्मत समाज का स्वर्णिम-स्वप्न—ये हैं प्रगतिवाद के विभिन्न अवयव, उसकी अनेक विशेषताएँ। प्रगतिवाद का यह अर्थ पहले अर्थ का विरोधी नहीं होते हुए भी उससे संकुचित और सीमित तो है ही। इस अर्थ को लेकर चलनेवालों की मनोवृत्ति असह्य तब हो जाती है जब प्रतिक्रिया के आवेश में वे साहित्य को राजनीतिक समाजवाद के प्रचार का केवल एक हलका-सा माध्यम के रूप में प्रयोग करते हुए साहित्य के मूल तत्वों पर ही कुठाराघात करने लगते हैं। साहित्य के साहित्यत्व की रक्षा करते हुए प्रगतिवाद के इस अर्थ के अनुसार भी जो साहित्य प्रस्तुत किया जायगा, वह सामयिक दृष्टि से ही सही, अभिनन्दनीय अवश्य होगा। हिन्दी गद्य के क्षेत्र में यशपाल इस प्रकार एकान्त प्रगतिवादी हैं। साम्प्रदायिक प्रगतिवाद के राष्ट्रीय सीमाओं का विरोधी होने और अखिल विश्व का पूँजीपतियों और श्रमिकों के केवल दो वर्गों में विभाजन का हिमायती होने के कारण हिन्दी के राष्ट्रीय कवि इस स्थूल दृष्टि से प्रगतिवादी नहीं कहे जा सकेंगे।

## स्वच्छन्दतावाद ( Romanticism )

साहित्य के इतिहास में कभी-कभी ऐसा युग आता है जब साहित्य-पद्धति और रचना-कौशल ( technique ) धीरे-धीरे विशिष्ट प्रकार से रूढ़ हो जाता है, काव्यादि में प्रयोग के लिए जीवन-व्यापारों अथवा अनुभूतियों के चुनाव तथा उनकी अभिव्यक्ति के ढंग में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की प्रवृत्ति रह नहीं जाती। विषय और शैली दोनों के क्षेत्र में परम्परा अनुमोदन और पिष्टपेषण की मनोवृत्ति बढ़ जाती है और मौलिक उद्भावना का अवकाश नहीं रह जाता और तब साहित्य का सम्पर्क जीवन से विच्छिन्न हो जाता है। उसी की प्रतिक्रिया होती है और तब जान-बूझकर प्राचीन के विरुद्ध विद्रोह और नूतन के प्रति मोह की प्रवृत्ति बढ़ती है। प्रत्येक क्षेत्र में नूतन, मौलिक, स्वतंत्र परीक्षण को प्रश्रय मिलता है। साहित्य की धारा तब स्वच्छन्द गति से, शास्त्र और परंपरा के कगारों को ध्वस्त-त्रस्त करती हुई बह निकलती है। इसी प्रवृत्ति का नाम है स्वच्छन्दतावाद। इसके अन्तर्गत जीवन को एक नूतन महत्त्वांकन प्राप्त होता है। छोटी-से-छोटी वस्तुओं का चित्रण भी इस रूप में हो सकता है कि उसका अत्यधिक महत्त्व दृष्टिगत हो, क्योंकि जीवन को देखने का दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतंत्र-अनुभूतियों द्वारा प्रसूत होता है।

स्वच्छन्दतावाद की कविता का विषय है सामान्य जीवन। कोई आवश्यक नहीं कि जो कुछ असाधारण हो, महिम हो, वही काव्य का विषय बने। जन, सामान्य की भाव-भूमि पर ही स्वच्छन्दतावाद पुष्पित-पल्लवित होता है। इस संबंध में पं० रामचन्द्र शुक्ल के कुछ वाक्य ध्यातव्य हैं— "जब-जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब इसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई भावधारा से जीवन तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा। यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित, पशु-पक्षियों, पेड़-पौधे, जंगल-मैदानों को भी समेटे चलती है। देश के स्वरूप के साथ यह संबद्ध

चलती है। इस भावधारा की अभिव्यञ्जना-प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिनपर जनता का हृदय इस जीवन में अपने भाव स्वभावतः ढालता आता है। हमारी भाव-प्रवर्त्तिनी शक्ति का असली भांडार इसी स्वाभाविक भावधारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पंडितों की काव्य-धारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पड़कर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम होने लगती है। ऐसी परिस्थिति में इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भाव-धारा के ढलाव की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामञ्जस्य के रूप में हो, अंध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता के हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्त्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता ( True Romanticism ) कहना चाहिए; क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।"[1] फलतः स्वच्छन्दतावाद परंपरावाद ( classicism ) का विरोधी है।

हिन्दी में इस वाद के कवियों में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और रामधारी सिंह 'दिनकर' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्लजी का विचार है कि यदि स्वच्छन्दतावाद की धारा हिन्दी कविता में द्विवेदीयुग की अतिशय इतिवृत्तात्मकता की बालुकाराशि में नहीं अवरुद्ध हो जाती, तो हिन्दी के प्रकृत-काव्य का भाण्डार आज बहुत समृद्ध होता।

## पलायनवाद ( Escapism )

काव्यक्षेत्र में जीवन के यथार्थ की विषमताओं और विभीषिकाओं से ऊबकर सुदूर अतीत में या कल्पना-लोक में आश्रय ग्रहण करने में ही पलायनवाद निहित है। कवि जब वास्तविक जगत् की प्रतिकूल परिस्थितियों से अत्यन्त घबड़ा उठता है तब वह अवास्तव की ओर पलायन करता है। अवास्तव का गाढ़ालिंगन उसे दो रूपों में मिलता है—अतीत के किसी मधुर भाग की स्मृतियाँ

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२६।

लगाकर इसी में रत रहने में[1] अथवा रंगीन कल्पनाओं की दुनिया में यथार्थ की विषमताओं को विस्मृत कर देने में। कविता में ये दोनों प्रवृत्तियाँ तब पाई जाती हैं जब देश की परिस्थितियाँ अत्यन्त निराशा-जनक और असह्य हो जाती हैं और कवि का कोमल हृदय उसकी भीषण संवेदनाओं की प्रतिक्रिया की चोट से तिलमिला जाता है। स्वच्छन्दतावाद के साथ भी इसका बहुत कुछ संबन्ध है। क्योंकि शास्त्रों के रूढ़ि-बन्धन में जकड़े रहकर 'पलायन' नहीं किया जा सकता।

अंग्रेजी के Wordsworth[2] आदि कवि और हिन्दी के छायावादी कवियों में हम पलायनवृत्ति देखते हैं। छायावादी पंत, प्रसाद, महादेवी आदि की कविताओं में यथार्थ से बचकर कल्पना की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है।[3]

## प्रतीकवाद ( Symbolism )

छायावाद की शैलीगत विशेषताओं के संबंध में प्रतीकयोजना की चर्चा हो चुकी है। कहा जा चुका है कि कभी-कभी कविता में प्रस्तुत विषय के स्थान पर उसके अप्रस्तुत प्रतीकों का व्यवहार किया जाता है और उसके द्वारा प्रस्तुत की व्यञ्जना करायी जाती है। कहीं-कहीं प्रतीकों का प्रयोग छायावादी कविता की अभिव्यञ्जना-पद्धति के अंगरूप न होकर स्वतंत्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में परिलक्षित होता है। "सन् १८८५ में फ्रांस के रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी ( Symbolists ) कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुतों के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसीसे उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का

---

१ देवि, दुखद है वर्त्तमान की यह असीम पीड़ा सहना।
कहीं सुखद इससे संस्मृति में अतीत की रत रहना॥ —'दिनकर'

२ The world is too much with us—

३ ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी, अम्बर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।

व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम-संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिये भी प्रतीक-शैली की ओर वही प्रवृत्ति रही।[1] हिन्दी में भी इस प्रकार की कविताएँ समय-समय पर होती आयी हैं, जिसमें विषय-क्षेत्र की दृष्टि से किसी प्रकार के भी प्रस्तुत के स्थान पर उससे किन्हीं अंशों में सादृश्य रखनेवालों अप्रस्तुतों का प्रयोग किया जाता है। कबीर[2] से लेकर आधुनिक कवियों तक यह प्रवृत्ति हम पाते हैं।

## अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism)

इस सिद्धान्त विशेष के प्रवर्त्तक इटली के क्रोचे (Benedetto Croce) हैं। इनके अनुसार काव्य का काव्यत्व उक्ति अर्थात् अभिव्यञ्जना-प्रणाली में ही निहित है, उसके विषय अथवा भीतरी तत्त्व में नहीं। शैली ही सब कुछ है, काव्यवस्तु कुछ नहीं। कविता का विषय-विचार या भाव या दृश्य या घटना, चाहे जो भी हो—केवल सहारामात्र है; असल वस्तु है अभिव्यक्ति का ढंग। शब्द में ही कविता है, अर्थ में नहीं। "An aesthetic fact is form and nothing else" कविता का उत्कर्ष, इसीलिये, काव्यवस्तु के उत्कर्ष पर आधार नहीं रखता, वरन् अभिव्यञ्जना के ढंग की सुन्दरता आदि पर निर्भर रहता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी आभूषण के सौन्दर्य उसके स्वर्ण ( धातु, भीतरी तत्त्व ) पर आश्रित न रहकर उसके आकार की कमनीयता ( गढ़न, रचनाशैली ) पर रहता है। अतः इस सिद्धान्त से प्रेरित कविताओं में काव्यवस्तु के रूप में चाहे कुछ भी गृहीत हो सकता है, उसमें काव्योचित सौन्दर्य या महत्त्व हो अथवा नहीं। ओसकण से लेकर प्रकृति के अनन्त विराट् ( Sublime ) दृश्य तथा जड़ पत्थर से लेकर चेतन मनुष्य की अन्तर्भावनाओं एवं अनुभूतियों तक को कविता का विषय बनाया जा

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रा० च० शुक्ल, पृ० ८०६

२ माली आवत देखकर कलियाँ करीं पुकार।
फूले फूले चुन लईं, काल्ह हमारी बार॥—कबीर

सकता है। विषय कुछ भी हो, क्योंकि काव्यगत चमत्कार या रमणीयता उस विषय के प्रस्तुत करने की शैली में ही है। अतः कविता का कविता में अनुवाद नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनुवाद में विषय तो सुरक्षित रह सकता है, पर काव्य का बाह्याकार—शब्द-विधान तो बदल ही जाता है। उक्ति जब स्वयं कविता है तब उसके पर्याय का तादात्म्य उससे नहीं हो सकता। इसलिये जब यह कहा जाय—"नायिका के जीवन में वसन्त गूँजने लगा" तो इसे इस उक्ति का पर्याय नहीं समझना चाहिए—"नायिका युवती हो गयी।" इसी प्रकार "मेरी आशा के सभी फूल मुरझा गये" और "मेरी आशा सम्पूर्णतः नष्ट हो गयी।" ये दोनों सर्वथा स्वतंत्र और निरपेक्ष उक्तियाँ हैं।

इस वाद के अन्तर्गत आनेवाली कविताओं में हम फलतः बाह्य उपादानों की विशेष सज-धज तो देखते हैं, पर मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी अनुभूतियों की कल्पनात्मक योजना नहीं पाते। कवि का ध्यान बेल-बूटेवाली नक्काशी से पाठक को चमत्कृत करने की ओर अधिक और हृदय को रसदशा में लीन करने की ओर कम रहता है। अभिव्यञ्जनावाद वक्रोक्तिवाद के बहुत अधिक निकट है और हिंदी की रीति-परंपरा के कवि कुछ इसी प्रकार के कवि हैं।[1]

## कलावाद

काव्य-क्षेत्र में कलावाद की प्रवृत्ति का भी काफी जोर रहा है। प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् डा० ब्रैडले ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"यह अनुभव स्वयं अपना उद्देश्य है, इसका मूल्य स्वयं अपने ढंग का है। अपनी एकांतभूमि के बाहर भी इसका अन्य मूल्य हो सकता है।··· पर ये बाह्य उपादान उसके उत्कर्ष के मापदंड नहीं हो सकते। उसका उत्कर्ष तो एक तृप्तिकर कल्पना-मूलक विशिष्ट अनुभूति पर आश्रित है। इसलिए उसका मूल्यांकन भीतरी तत्त्वों को लेकर ही हो सकता है।···बात यह है

---

१ 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद'—श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'

कि कविता को अगर हम उसके विशुद्ध क्षेत्र के बाहर घसीट लायेंगे तो बहुत अंशों में उसके असली रूप को क्षति पहुँचेगी; क्योंकि उसकी प्रकृति या अस्तित्व इस बाहरी दुनिया का अंग अथवा प्रतिच्छाया नहीं है। उसका एक अपना संसार है, एकांत, सर्वांगपूर्ण और स्वच्छन्द।[1] जब यह माना जाता है कि कला कला के लिए है और जीवन की इतर उपयोगिताओं से उसका कोई संबंध नहीं, तो काव्य-'कला' का संपर्क भी जीवन से—सोद्देश्य जीवन ( Conscious living ) से छूट जाता है। कलावाद के अनुसार कवि कविता इसलिए नहीं करता कि वह समाज पर कोई विशिष्ट प्रभाव डालना चाहता है या उसे आदर्श ढाँचे में ढालना चाहता है। वह कविता इसलिए करता है कि कविता किये बिना वह रह नहीं सकता। जिस सौंदर्य की उसने अपने अन्तरात्मा में अनुभूति प्राप्त की है वह उसके हृदय के उपकूलों को प्लावित करते हुए यह निकलने को आकुल है। कुछ ऐसी लाचारी है कि जो गान उसके हृदय के आनन्द और वेदना से सिक्त होकर अन्तस् में उमड़ते हैं, उसके गाये बिना उसका हृदय हलका होगा नहीं। अतः कवि इसलिए कविता नही करता कि वह सोच-समझकर, जान-बूझकर, किसी उद्देश्य को सामने रखकर कविता करने बैठता है। कविता तो स्वतः उसकी अन्तरात्मा से फूटती है। उसके वेग को रोक लेना उसकी शक्ति के बाहर है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर फिर कविता को विधि-निषेधों में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि कवि कैसी कविता करेगा, इसका नियामक स्वंय उसकी मानसिक ( मन की ) स्थिति हो सकता है, कोई वाह्य शास्त्र-विधान नहीं। कवि की सफलता-असफलता को भी उसकी कविता को पढ़कर नहीं मापा जा सकता; क्योंकि कवि का उद्देश्य कविता करना भर है, विशिष्ट प्रभावों की प्रेषणीयता मे उसका कोई लगाव नहीं।

इस संबंध में पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन ध्यातव्य है— "यूरोप में जिस प्रवाद का इधर सबसे अधिक फैशन रहा है वह है—'काव्य का उद्देश्य

---

१ Oxford lectures on Poetry : A. C. Bradley.

काव्य ही है' या 'कला का उद्देश्य कला ही है।' इस प्रवाह के कारण जीवन और जगत् की बहुत-सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य-निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर त्यागी जाने लगीं कि ये तो इतर वस्तुएँ हैं, शुद्ध कलाक्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएँ हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रवाह की योजना करनेवाले कई सामान खड़े हुए थे। कुछ तो इसमें जर्मन सौंदर्य-शास्त्रियों की यह उद्भावना सहायक हुई कि सौंदर्य-संबंधी अनुभव Aesthetic Experience) एक भिन्न ही प्रकार का अनुभव है जिसका और प्रकार के अनुभवों से कोई संबंध ही नहीं। इससे बहुतेरे साहित्य-शास्त्री यह समझने लगे कि कला का मूल्य-निर्द्धारण भी उसके मूल्य को और सब मूल्यों से एकदम विच्छिन्न करके ही होना चाहिए। ईसा की १९वीं शताब्दी के मध्यभाग में ह्विस्लर ( Whistler ) ने यह मत प्रवर्तित किया।"[1]

## हालावाद

इधर कुछ दिनों तक बच्चन की मधुशाला और मधुबाला जैसी मस्ती का सन्देश सुनानेवाली रचनाओं के कारण हालावाद की खूब धूम रही। बच्चन को जो ख्याति मिली, उसके कारण देखा-देखी अनेक कवि उसी मार्ग पर अग्रसर होने लगे। सभी ने मदिरा पर ही अनिवार्यतः कविताएँ नहीं कीं, लेकिन भीतरी तत्त्व उनकी कविताओं का वही रहा। विफल जीवन की उन्मादिनी निराशा और यौवन की मस्ती, समाज के रूढ़ विधानों के प्रति विद्रोह और सोचने का नया ढंग, भावों की सादगी तथा भोलापन और अभिव्यक्ति की सरलता आदि इस वर्ग के कवियों के उपादान बने। विशिष्ट सिद्धान्तों की शृंखला में कविता को नहीं बाँधना ही इसकी विशेषता है। अतः हालावाद का कोई सैद्धान्तिक रूप स्पष्टतः सामने नहीं आया है जिसमें उल्लेखयोग्य गंभीरता हो। प्रेरणा की दृष्टि से यह प्रवृत्ति पलायनवाद के अधिक समीप है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

# काव्य ( कविता )

**अर्थ-परिधि**—प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'काव्य' शब्द का जो अर्थ ग्रहण किया जाता था, वह आजकल 'साहित्य' शब्द से अभिप्रेत है। काव्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण रसात्मक या सृजनात्मक साहित्य की गणना होती थी। संस्कृत परंपरा के अनुसार काव्य के भेद इस प्रकार मान्य हैं—

- काव्य
  - दृश्य काव्य
    - रूपक — इसके नाटक प्रहसन आदि १० भेद
    - उपरूपक — इसके नाटिका सट्टक आदि १८ भेद
  - श्रव्य काव्य
    - गद्य काव्य ( आख्यायिका )
    - पद्यकाव्य
      - प्रबन्ध काव्य
        - महाकाव्य
        - खण्डकाव्य
      - मुक्तक
        - वीरगीत
        - स्फुट पद
        - गीतिकाव्य
    - चंपू
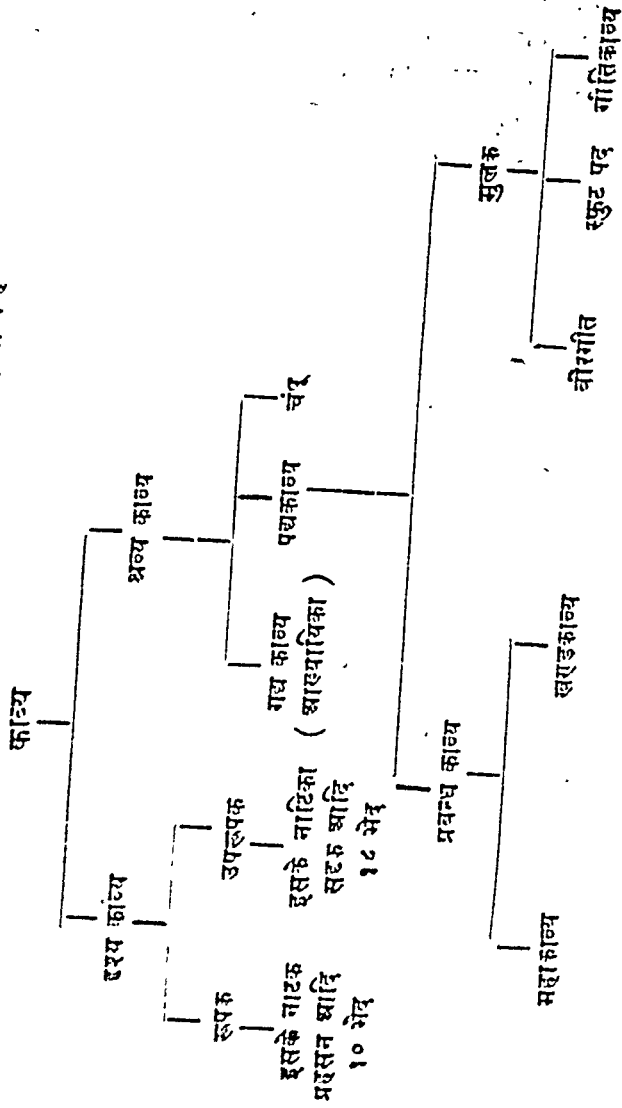
लेकिन जिसे आज के युग में हम कविता के नाम से जानते हैं, उसकी परिधि में श्रव्य-काव्य का केवल वह भेद ही आता है जो पद्यमय है। प्राचीन दृष्टि के अनुसार जो दृश्य-काव्य और गद्य-काव्य हैं, उन्हें हम आज काव्य-कोटि में नहीं रखते। गद्यकाव्य या गद्यगीत से भी हम आज एक दूसरा ही अर्थ ग्रहण करने लगे हैं।

संस्कृत में 'साहित्य', 'काव्य' और 'कविता' शब्दों में अर्थ-भेद अवश्य था। कविता से पद्यबद्ध रचना-विशेष, जिसमें रस, अलंकार, रमणीयता आदि का समावेश हो, समझा जाता था। 'काव्य' से विशिष्ट साहित्य ग्रंथों का अर्थ ग्रहण किया जाता था—चाहे वह दृश्य-काव्य हो अथवा श्रव्य-काव्य। और 'साहित्य' से सामान्यतः सम्पूर्ण वाङ्मय का सामूहिक बोध होता था।

आज के युग में हम कविता का अर्थ बहुत कुछ वही समझते हैं, जो पहले समझा जाता था ; लेकिन काव्य की परिधि संकुचित हो गयी है। कविताओं की समष्टि को ही काव्य कहते हैं। अतः काव्य और कविता में अन्तर केवल सामान्य और विशेष का है, अंगी और अंग का नहीं।

कवि—काव्य-रचना की सामर्थ्य मानव की सामान्य-प्रवृत्ति नहीं। कवि विशिष्ट व्यक्ति ही हुआ करते हैं, जो जनसाधारण से कुछ अंशों में विलक्षण अवश्य होते हैं।

'काव्य-प्रकाश' में आचार्य मम्मट ने काव्य-निर्माण के कारणों ( हेतु ) का उल्लेख करते हुए कहा है—

> शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
> काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥[1]

अर्थात् कवि में काव्य-रचना की क्षमता तभी होगी जब शक्ति, निपुणता और अभ्यास ( अथवा प्रतिभा, अध्ययन और अभ्यास ) तीनों का योग होगा।

---

१ काव्य-प्रकाश, प्रथम उल्लास, तृतीय कारिका।

**काव्य के उद्देश्य**—संस्कृत-काव्य-शास्त्र में काव्य का उद्देश्य इस प्रकार बताया गया है—

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परिनिर्वृतये कांता संमिततयोपदेशयुजे।[1]

अर्थात् कविता के उद्देश्य हैं—

( क ) यशप्राप्ति

( ख ) अर्थ ( द्रव्य )—लाभ

( ग ) सामाजिक व्यवहार की शिक्षा

( घ ) शिवेतर का क्षय अर्थात् अमंगल से रक्षा

( ङ ) तत्काल उत्कृष्ट आनन्द की अनुभूति

( च ) कांता के समान मधुर उपदेश

अतएव भारतीय परम्परा के अनुसार काव्य-कला को सोद्देश्य माना गया है। जीवन के अन्य व्यापारों के साथ उसका सीधा संबंध है। क्योंकि कविता का उद्देश्य धनार्जन से लेकर विशुद्ध आनन्द-लाभ एवं मधुर उपदेश के द्वारा मानव-जीवन के परिस्कार तक माना गया है।

परन्तु पाश्चात्य समीक्षकों में इस विषय पर मतभेद है। श्री फ्रिजर कोच, श्री क्लाइव वेल, श्री बेनिडिटो क्रोचे प्रभृति विद्वानों का मत है कि कविता एक निरुद्देश्य कला है। यह अपने आप में सम्पूर्ण है। विशुद्ध आनन्द की उपलब्धि के अलावे इसका कोई इतर उद्देश्य नहीं। कवि काव्य-रचना करते समय किसी काव्येतर उद्देश्य के प्रति सचेत (Conscious) नहीं हुआ करता और न वह किसी सर्वथा बाह्य उपादान या उपयोगिता की प्रेरणा से कविता लिखता है। कवि की सफलता सम्यक् आत्माभिव्यञ्जन

---

१ काव्य-प्रकाश—मम्मट, प्रथम उल्लास, द्वितीय कारिका।

में ही है, काव्य-रचना से पृथक किसी उद्देश्य की सिद्धि में नहीं।[1]

इसके विपरीत श्री आइ० ए० रिचर्ड्स, श्री मैथ्यू आरनल्ड आदि का

---

१ इस सम्बन्ध में श्री ब्रैडले का कथन ध्यातव्य है—

"This experience (the poetic experience) is an end in itself, is worth having on its own account, has an instrinsic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion; because it conveys instruction or softens the passions, or furthers a good cause; because it brings the poetic fame, or money, or a quiet conscience.. So much the better let it be valued for these reasons too. But its ulterior worth neither is nor can directly determine its poetic worth as a satisfying imaginative experience; and this is to be judged entirely from within......The consideration of ulterior ends whether by the poet in the act of composing or by the reader in the act of experiencing, tends to lower poetic value. It does so because it tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere. For its nature is to be not a part nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be a world by itself, independent, complete, autonomous."

विचार है कि कविता का महत्त्व भी उद्देश्य-सापेक्ष है। मानव-व्यापारों का केन्द्र उसका अपना जीवन और उसकी समृद्धि की अभिलाषा है। अतः सभी कलाओं की भाँति काव्यकला भी जीवन के लिए है। अतः कविता का भी एक निर्दिष्ट उद्देश्य है और वह है जीवन की व्याख्या करना अथवा जीवन का परिष्कार करना अथवा जीवन के किसी गहन अभाव की पूर्ति करना।[१] रेस्किन का भी यही मत है।[२]

वस्तुतः इन परस्पर-विरोधी विचारों को देखते हुए यह कहना सहज नहीं है कि काव्यकला का प्रधान उद्देश्य काव्यगत रसानुभूति मात्र ही है अथवा इसके अतिरिक्त भी उसका कोई महत्त्वपूर्ण उपयोग है। इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय पर पहुँचने के पहले हमें काव्य-रचना के समय कवि की क्या स्थिति या मनोदशा रहती है, इसका सूक्ष्म अध्ययन करना होगा। अनुभव बतलाता है कि कविता लिखते समय कवि बहुत अंशों में अपनी वास्तविक परिस्थिति की चेतना से शून्य हो जाता है और कल्पना के रमणीय धरातल पर स्थित रहता है। भावावेश के जिन पुनीत क्षणों में कविता का जन्म होता है, उनमें कवि के मानस-नेत्रों के सामने कोई निश्चित गन्तव्य सदा होता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक ओर जहाँ प्रबन्ध-काव्य के कवियों की दृष्टि वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण आदि की आवश्यकताओं के कारण सदा अन्तिम लक्ष्य के प्रति सचेत रहती है, वहाँ दूसरी ओर गीति-काव्य में कवि की आँखें केवल एक क्षण को देख पाती हैं। उस क्षण के परे क्या है, यह देखने का अवकाश कवि को नहीं

---

१ "Poetry is the criticism of life"—Mathew Arnold.

२ "It is only for the purpose of being useful that poetry ought to be agreeable; pleasure is only a means which she uses for the end of profit"—Pafrin.

रहता। ऐसी कविता लिखते समय कवि अपनी सुध-बुध खो-सा देता है। लिखते समय वह नहीं जानता कि कविता सोद्देश्य है या निरुद्देश्य। बहुत संभव है कि आत्म-तोष या आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त उसके लिखने का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। बहुत संभव है कि वह किसी भी उद्देश्य के प्रति सचेत नहीं है।

अतः इतना तो हम निश्चयपूर्वक कह ही सकते हैं कि काव्य-रचना निरुद्देश्य भी हो सकती है, जब कि उसकी कोई इतर उपयोगिता नहीं होती। और कवि को किसी उद्देश्य या उपयोगिता के प्रति सजग रहना काव्योत्कर्ष के लिए सदा वाञ्छनीय नहीं होता। कविता का सोद्देश्य या निरुद्देश्य दोनों होना संभव है और दोनों प्रकार की कविताओं के उत्कर्ष के मापदंड भी अलग-अलग हैं जिनपर आगे विचार किया जायगा। उदाहरण के लिए कालिदास का 'मेघदूत', सूर और मीरा की पदावली, रवीन्द्र की कुछ कविताएँ (जैसे उर्वशी) तथा छायावाद की अधिकांश कविताएँ बिना किसी पूर्व-निश्चित उद्देश्य के, निरुद्देश्य भावानुभूति की अभिव्यञ्जना की प्रेरणा से लिखी गयी होंगी; लेकिन तुलसी के 'रामचरितमानस', हरिऔध के 'प्रियप्रवास' तथा प्रसाद की 'कामायनी' की रचना में किसी निश्चित योजना के साथ-साथ कुछ निर्द्धारित उद्देश्य भी है, इसमें सन्देह करने की गुंजाइश बहुत अधिक नहीं है।

अतः कविता लिखते समय कवि के मन में यदि कोई महान् उद्देश्य नहीं है, तो इसी कारण कविता महान् नहीं होगी, ऐसा कहना गलत होगा। क्योंकि काव्योद्देश्य के प्रति सजग रहना कलाकार के लिए न तो सभी दशाओं में संभव ही है, न अनिवार्य ही।

काव्य के मूल्यांकन में कविता के उद्देश्य का फिर भी काफी महत्त्व है, यह अस्वीकार्य नहीं। अतः काव्योद्देश्य के विषय पर और गंभीर विचार कर लेना अनिवार्य जान पड़ता है। इसके लिए काव्य-प्रेरणा के मूल उद्गम का अवलोकन करना आवश्यक होगा।

## ५ कविता की प्रेरणा

कवि को अपनी कविताओं की प्रेरणा कहाँ से मिलती है, वह कविताएँ क्यों लिखता है, काव्य-रचना की अभिलाषा के मूल में क्या है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनपर संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत विचार करने की आवश्यकता आचार्यों को प्रतीत नहीं हुई। कारण, वे जीवन के अन्य व्यापारों की तरह काव्य-रचना को सोद्देश्य मानकर चले और इसीलिए कविता लिखने की प्रेरणा इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि की अभिलाषा हुई। उद्देश्य-सिद्धि से पृथक् काव्य-रचना की प्रेरणा के विचार का प्रसंग कोई अर्थ ही नहीं रखता था; क्योंकि सोद्देश्य कार्यों या व्यापारों में उद्देश्य की सफलता की इच्छा सबसे बड़ी प्रेरणाओं में से हुआ करती है।

लेकिन पश्चिम में, जहाँ काव्य को जीवन के अन्य व्यापारों से अलग भी माना गया है और जहाँ कविता को निरुद्देश्य आनन्द की साधना के रूप में भी स्वीकार किया गया, इस बात पर विचार सर्वथा अनिवार्य जान पड़ा कि यदि कविता कविता के लिए है तो कविता लिखने की प्रेरणा कवि के मन में कहाँ से आती है? मनुष्य की वह कौन-सी वृत्ति है जिसका प्रतिफलन काव्य-कला के रूप में निसर्गतः होता है? यूरोप के विद्वानों ने इसके संबंध में निम्न रीति से विचार किया है।

अरस्तू—ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक और तत्ववेत्ता अरस्तू का विचार था कि साहित्य-रचना की प्रेरणा अथवा किसी भी कला की प्रेरणा का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति में है। प्रकृति की विराट् शक्तियों और विविध विचित्र दृश्यों से अभिभूत और आन्दोलित मानव का हृदय-उनके अनुकरण द्वारा शान्ति और आनन्द-लाभ करता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप काव्य-रचना का सूत्रपात होता है।

इस सिद्धान्त को बहुत पहले ही असन्तोषप्रद मान लिया गया है; क्योंकि काव्य-रचना केवल यथार्थ की अनुकृति नहीं, वर मौलिक सृष्टि भी

है। अतः काव्य-प्रेरणा में दूसरी प्रवृत्तियों का योग अनिवार्य है।

ह्वीगेल—ह्वीगेल ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अनुकरण की प्रवृत्ति के साथ मानव की निसर्गसिद्ध सौंदर्य-प्रियता और आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्तियों को सम्मिलित कर लिया। मनुष्य स्वभावतः अनुकरण-प्रिय होता अवश्य है, लेकिन कवि उन वस्तुओं का ही अनुकरण करने का अभिलाषी होता है जिनमें सौंदर्य का निवास पाता है और आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण अपने व्यक्तित्व को उस सौंदर्य के तत्त्व से समन्वित कर—सौंदर्य को रागात्मक रूप प्रदान कर—कविता के माध्यम से प्रस्तुत करता है। अपने अन्तःकरण में विश्व-सौंदर्य के रहस्य की अनुभूति और उसके प्रकटीकरण द्वारा आत्म-प्रदर्शन की अभिलाषा—यही काव्य-प्रेरणा के मूल में है।

इस सिद्धान्त को मान लेने में बाधा यह है कि विश्व में किसी व्यापक सौंदर्य-तत्त्व की स्थिति का सिद्धान्त भ्रामक है। क्योंकि सौंदर्य व्यक्ति-सापेक्ष्य है। सौंदर्य की निरपेक्ष ( Absolute ) धारणा इसलिए मान्य नहीं है कि सौंदर्यानुभूति आत्मनिष्ठ ( Subjective ) ही हो सकती है। विभिन्न व्यक्तियों की सौंदर्य-धारणा उनकी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार-आचार के ही अनुपात में भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के मानने में दूसरी बाधा यह है कि अनुकरण और आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्तियाँ सृजनात्मक नहीं और काव्य-रचना एक सृजनात्मक प्रक्रिया भी है। अतः यह सिद्धान्त भी असन्तोषजनक है।

वेनडिटो क्रोचे—अभिव्यञ्जनावाद के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक क्रोचे के अनुसार काव्य केवल नैसर्गिक आत्माभिव्यञ्जना है। वाह्य जगत् के विभिन्न रूपों ( अथवा इन्द्रियग्राह्य समस्त उपकरणों ) की जो अरूप ( अमूर्त ) प्रतिक्रिया मानव-मन में होती है, उसी की मूर्त अभिव्यञ्जना मानवात्मा की एक अनिवार्यता है। भारतीय रस-शास्त्र का सहारा लेकर कहें तो कह सकते हैं कि आलंबन और उद्दीपन विभावों के प्रभाव-रूप में जो भाव ( रस ) हृदय के अन्तराल में उद्भूत होते हैं, उन्हीं की अभिव्यञ्जना मानव की एक

स्वाभाविक भूख है। इस अभिव्यञ्जना के बिना हृदय में एक भार-सा प्रतीत होता रहेगा। अत: कवि बाह्य संसर्गजन्य आत्मानुभूतियों को स्वभावतया अभिव्यञ्जित करके मानसिक स्वास्थ्य-लाभ करने का अभिलाषी होता है। यह अभिव्यन्जना सृजनात्मक है, क्योंकि अरूप की रूपात्मक अभिव्यक्ति में मौलिक सृजन अनिवार्य है।

यह सिद्धान्त पूर्ववर्त्ती सिद्धान्तों से अवश्य अधिक सन्तोषप्रद और वैज्ञानिक है; परन्तु यह काव्य-प्रेरणा की समस्या को पूर्ण रूप से हल करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि जब बाह्य विश्व के सम्पर्क में सभी मनुष्य आते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में सभी की आत्मा की तंत्री झंकृत होती होगी। फिर केवल कुछ विशिष्ट व्यक्ति की ही आत्मा में प्रतिक्रिया-रूप इन अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यञ्जना की प्यास क्यों उद्भूत होती है—यह सवाल रह ही जाता है। क्योंकि हम देखते हैं कि काव्य-प्रेरणा का उदय कवि कहलाने के अधिकारी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के ही अन्तर में होता है। अतः इस समस्या पर अभी और सूक्ष्म विचार की आवश्यकता रह जाती है।

फ्रायड—फ्रायड आधुनिक युग का प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक और मनस्तत्त्व-वेत्ता है। उसने जीवन के समस्त व्यापारों की नवीन मौलिक व्याख्या की है। उसके मतानुसार जीवन के समस्त क्रिया-कलाप काम-वृत्ति की अभिव्यक्ति के विविध रूप हैं। काम ही मानव की मूल-वृत्ति है जिसकी तृप्ति के लिए मनुष्य सदा प्रयत्न करता रहता है। उसकी काम-वासना यदि स्वाभाविक जीवन-प्रक्रिया में तृप्ति पा जाती है, तो उसके जीवन में कोई असाधारणता नहीं होती। लेकिन परिस्थितियों के संघात से यदि यही काम-वासना अतृप्त या अभुक्त रह जाती है, तो वह किसी अन्य रूप में अपना प्रकाशन करती है। क्योंकि, काम का दमन नहीं हो सकता। स्वाभाविक अभिव्यक्ति का मार्ग अवरुद्ध पाकर काम अनेक अस्वाभाविक या असाधारण मार्ग से अभिव्यक्त होता है। स्वप्न के छाया-चित्र इन्हीं मार्गों में से हैं। जाग्रतावस्था में अतृप्त आकांक्षाएँ स्वप्न में तृप्ति की याचना करती हैं। कविता ( या कोई अन्य कला ) भी इसी स्रोत से उद्भूत है। कवि की

अतृप्त काम-वृत्ति ही अनेक कल्पना-चित्रों के रूप में प्रतिफलित हो काव्यकला की उद्‌भूति का कारण बनती है।

काव्य-प्रेरणा का यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त बहुत दूर तक हमारी समस्याओं को हल करने में समर्थ अवश्य है, लेकिन जब हम विश्व की कुछ श्रेष्ठतम काव्य-कृतियों के रचयिताओं के जीवन पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त एकान्त रूप से हमारी समस्या का समाधान नहीं प्रस्तुत करता। दूसरे, जगत् में अतृप्ति जितना व्यापक है, काव्य-प्रतिभा उतना बहुल नहीं। इसके अतिरिक्त कविता में जिस प्रभाव-प्रेषणीयता का महत्त्व बहुत अधिक है, वह पाठक-सापेक्ष्य है और यदि अतृप्त काम को ही काव्य-रचना का एकमात्र कारण मान लिया जाय तो कविता का रसास्वादन करनेवाला पाठक भी उसी अनुपात में अतृप्त काम के शिकार हैं जिन अंशों में कवि—ऐसा मान लेना आवश्यक हो जाता है। लेकिन ऐसा सदा नहीं होता। अतः यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत सूक्ष्मान्वेषी है, फिर भी समस्या का एकमात्र समाधान नहीं।

ऑडलर—फ्रायड के समकालीन ऑडलर ने भी इस समस्या पर विचार किया है। उसके मत में कला-सृष्टि के मूल में अपूर्ण मानव की पूर्णता के प्रयास की प्रवृत्ति है। मनुष्य का व्यक्तित्व एक विरोधाभास का प्रतीक है। एक ओर उसकी समस्त शक्तियाँ सीमित हैं, दूसरी ओर उसकी अभिलाषाएँ असीम। हीनत्व उसे स्वीकार्य नहीं। वह सदैव हीनत्व को दूर करने के लिए, पूर्णता की प्रतिष्ठा के लिए उद्योगशील होता है। वह मर्त्य है, अतएव अमरों की कल्पना उसे प्रिय है। वह दुर्बल एवं अपनी प्रवृत्तियों का दास है, अतएव किसी महान् मर्यादा पुरुषोत्तम की कल्पना उसके जीवन के लिए आवश्यक है। रामचरित में अनन्तशील, अनन्तशक्ति, अनन्तसौंदर्य की कल्पना का यही रहस्य है। जो वह नहीं है, उसकी कल्पना की प्रवृत्ति उसके स्वभाव में है। यही कविता की मूल प्रेरणा है।

इस सिद्धान्त को भी हम एकदेशीय ही कहेंगे; क्योंकि यह कविता के केवल एक प्रकार को लेकर चला है। ऐसी कविताएँ भी होती हैं जिनमें

किसी पूर्ण पुरुष अथवा पूर्ण तत्त्व की कल्पना न होकर मानव के दैन्य और अभाव को वाणी मिली होती है। उन कविताओं के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त उचित समाधान पेश नहीं करता। इसके अतिरिक्त उस सिद्धान्त के अनुसार जो व्यक्ति पूर्णता से जितनी दूर है उसकी कविता उतनी ही उत्कृष्ट होनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं होता।

युंग—प्रसिद्ध दार्शनिक युंग ने मानव की उपर्युक्त काम-वृत्ति और पूर्णता के प्रयास की प्रवृत्ति को उतना महत्त्व नहीं दिया है। उसके अनुसार जीवन के समस्त कार्य-व्यापार मूलतः एक प्रवृत्ति की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं और वह प्रेरणा है अस्तित्व की प्रवृत्ति, जीवन को बनाये रखने की प्रवृत्ति। कविता भी इसी प्रवृत्ति की अत्यन्त सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। हम अपने जीवन के क्षणों को खो जाने देना नहीं चाहते; क्योंकि वे हमारे व्यक्तित्व के विशिष्ट अंग हुआ करते हैं। अतः उन क्षणों का इतिहास लिख रखने का प्रयास करते हैं। उन क्षणों की अपनी अचिर अनुभूतियों को कला द्वारा चिर रूप प्रदान कर उन्हें अमर कर देना चाहते हैं; क्योंकि इसमें अपने अमरत्व का-सा आत्म-तोष हमें होता है। कविता का जन्म इसी से आत्म-सुरक्षा ( Self-preservation ) अथवा जीवनेच्छा ( Desire to live ) की प्रवृत्ति के फलस्वरूप होता है।

यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से सन्तोषप्रद इसलिए नहीं है कि आत्मरक्षा अथवा अस्तित्व-रक्षा की प्रवृत्ति तो सार्वजनीन है, फिर भी काव्योन्मेष के विरल क्षण कुछ विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियों के ही जीवन में क्यों आते हैं, इसका यह उचित समाधान नहीं प्रस्तुत करता। दूसरे, आत्मनिरपेक्ष ( Objective ) कविता के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त से काम नहीं चलता; क्योंकि उसमें कवि का अपने जीवन के चित्रण की प्रधानता नहीं होकर बाह्य विश्व के तटस्थ चित्रण का ही महत्त्व होता है।

काव्य-प्रेरणा के उद्गम की खोज में ये सभी सिद्धान्त पूर्ण रूप से सफल इसलिए नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये समस्या का एकांगी समाधान ही पेश कर सके हैं। लेकिन, इन सिद्धान्तों को दृष्टि-पथ में रखते हुए हम काव्य-प्रेरणा

की समस्या के सन्तोष-जनक समाधान तक स्वतंत्र रीति से विचार करते हुए अवश्य पहुँच सकते हैं।

काव्य-प्रेरणा के वास्तविक स्वरूप—इन्हें समझने के लिए हमें निम्न लिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए :—

( क ) जिस प्रकार जीवन पेचीदा है, उसी प्रकार काव्य की प्रेरणा भी अनेक तत्वों, प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के योग, संगठन अथवा संश्लेषण का प्रतिफलन है।

( ख ) ये तत्व, प्रवृत्तियाँ और परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :—

( i ) आनन्द-तत्व। सत् ( जड़ प्रकृति ) के संपर्क में आकर चित् ( जीवात्मा ) के अन्दर दो प्रकार की प्रतिक्रिया संभव है, शेष सृष्टि से अपने पार्थक्य के अथवा तादात्म्य के बोध की इन्हें हम ऋणात्मक और धनात्मक प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। प्रथम का परिणाम दुख-मूलक और द्वितीय का सुख-मूलक हो सकता है। शेष सृष्टि के साथ जीवात्मा का तादात्म्य—इसी में आनन्द-तत्व की उपलब्धि निहित है।

( ii ) मानव ( जीवात्मा ) के अन्दर आनन्द-लाभ की प्यास और इस उद्देश्य से आत्म-प्रसार की प्रवृत्ति। अपने को ससीम समझनेवाली आत्मा को अपनी असीमता के बोध में आनन्द की उपलब्धि होती है। अतएव मानव इस आनन्द-लाभ के अचेतन उद्देश्य से अपनी संवेदनाओं की परिधि के प्रसार का प्रयास करता है। वह दूसरों के सुख-दुख, राग-विरागों में हिस्सा बँटाना आरम्भ करता है तथा स्वयं अपना सुख-दुख भी बाँटकर भोगना चाहता है। अतः जहाँ एक ओर आत्म-प्रसार की प्रवृत्ति का प्रतिफलन बाह्य संवेदना-ग्राहकता के रूप में होता है, वहाँ दूसरी ओर आत्माभिव्यञ्जन भी इस प्रवृत्ति का एक प्रधान उपादान होता है।

( iii ) सौंदर्य-तत्त्व उन बाह्य-उपादानों से संबद्ध माना जाना चाहिए-जिनके संपर्क में आकर चेतन आत्मा को शेष सृष्टि के साथ किसी (रागात्मक) तादात्म्य का बोध हो और इस बोध से आनन्द की उपलब्धि हो।

( iv ) परिस्थितियाँ इन तत्वों और प्रवृत्तियों का संश्लेषण करती हैं

और जब यह संश्लेषण वांछित रूप में होता है, तभी काव्योन्मेष के क्षण अपने को प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण कविता सदैव नहीं लिखी जाती। वह उत्कृष्टतम क्षणों की वाणी है।

( ग ) इन तत्वों, प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के काव्य-प्रेरणा के रूप में प्रतिफलन की प्रक्रिया अत्यन्त विविध-रूपिणी एवं रहस्यपूर्ण है। स्थान और काल की दृष्टि से आत्म-प्रसार की आकांक्षा तो इसके मूल में है ही, लेकिन इस आकांक्षा का प्रकाशन अनेक उत्सों द्वारा होता है। कभी विश्व की अनेकता में किसी व्यापक एकता की झाँकी पाकर कवि अपने को इस व्यापक तत्व से पृथक् अनुभव करता हुआ एक पीड़ा का अनुभव करता और विश्व-सहानुभूति की याचना करता है। अपनी भावनाओं का प्रकाशन वह इसलिए, इस उद्देश्य से करता है कि विश्व के अन्य मानवों का हृदय उसकी भावनाओं को समझे, अनुभव करे और उससे आन्दोलित हो। इस अभिलाषा की चरितार्थता में उसे सन्तोष-लाभ होता है। आत्मनिष्ठ कविताओं में कवि की यही मनोवृत्ति अभिव्यक्ति पाती है। कभी कवि वाह्य विश्व की असंख्यता में अपना व्यक्तित्व खो देने की आकांक्षा से विश्व के सुख-दुख को अपना सुख-दुख बना लेने की अन्तःप्रेरणा से विश्व का तटस्थ चित्रण करता है, जैसे समाजनिष्ठ कविताओं में।

काव्य-प्रेरणा के मूल-स्वरूप के दर्शन इन्हीं विचारों के आधार पर अब हम कर सकते हैं। और हम देखेंगे कि इस मूल-स्वरूप के अन्तर्गत आत्माभिव्यञ्जन, अभुक्त-काम, पूर्णता के प्रयास और सतत् जीवनेच्छा की प्रवृत्तियाँ अपने प्रायः आ जाती हैं।

सृष्टि में तीन तत्व हैं—सत, चित् और आनन्द।

( i ) सृष्टि का वाह्य, जो जड़ है। यह वाह्य अनेक नाम-रूपों में विभक्त होकर अभिव्यक्त है।

( ii ) सृष्टि का आन्तरिक चेतन तत्व। यह अव्यक्त रूप में एक अखण्ड सत्ता है, यह बात शक्ति की एकरसता ( Conservation of

Energies ) के सिद्धान्त द्वारा प्रमाणित हो चुकी है। लेकिन इस अखंड सत्ता की अभिव्यक्ति खंडित रीति से—अनेक ससीम नाम-रूपों द्वारा अलग-अलग— हुई प्रतीत होती है।

( iii ) मानव का खण्डित या सीमा-बद्ध चेतन अपने वास्तविक उन्मुक्त निस्सीम रूप की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह मानव की नैसर्गिक वृत्ति है। इसी वृत्ति के कारण मनुष्य प्रेम करते हैं, अर्थात् दूसरे मनुष्यों के व्यक्तित्व को अपनी जीवन-परिधि में अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। काव्य-रचना भी इसी प्रकार की एक अन्तर्भुक्ति है। जब बाह्य विश्व के संपर्क में आकर कवि की चेतन आत्मा शेष विश्व के साथ अपने तादात्म्य के लिए तड़प उठती है, तो काव्य के रूप में वह अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति का प्रयास करती है। अतः रस-भूमि पर पाठकों के हृदय का स्पर्श करना— इस आकांक्षा के आलोक में हम काव्य-रचना को सोद्देश्य ही कह सकते हैं। कवि की कविता इसीलिए, निरुद्देश्य आत्माभिव्यक्तिमात्र नहीं, वरन् पाठकों के हृदय में तत्सदृश अनुभूति उत्पन्न कर उन्हें अपनी भाव-परिधि में सम्मिलित करने के उद्देश्य से—आत्म-प्रसार के उद्देश्य से—की गयी आत्माभिव्यक्ति है। यह दूसरी बात है कि इस उद्देश्य के प्रति कवि की चेतना सतत जागरूक नहीं रहती, पर कवि के उपचेतन मन में ही इस उद्देश्य का बोध स्थित रहता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर अभुक्त काम की प्रेरणा के रूप में काव्य के मूल को देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती ; क्योंकि भूख और काम ( रोटी और काम-भावना ) की प्रवृत्तियों के आगे जो इनसे भी मौलिक और व्यापक एक तीसरी प्रवृत्ति है—आत्म प्रसार द्वारा अपनी अनुभूतियों को विश्व-जीवन से तदाकार कर आत्माभिव्यञ्जना द्वारा आनन्दमय होने की प्रवृत्ति — उसी में कविता का मूल हम देखते हैं।

मेरे उपर्युक्त सिद्धान्त की संगति रसास्वादन की प्रक्रिया और कवि-जीवन के व्यापारों को सूक्ष्म रीति से अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होगी।

आत्म-प्रसार का सिद्धान्त साधारणीकरण के सिद्धान्त [१] से स्वतः प्रमाणित है। कवि व्यक्ति की अनुभूतियों का चित्रण व्यक्ति की विशिष्टता की दृष्टि से नहीं करता वरन् उसे साधारणीकृत कर—व्यक्ति-विशेष के सम्पर्क से उन्हें उन्मुक्त और सबके लिये आस्वादनीय बनाकर—करता है। कवि-जीवन की ओर दृष्टि ले जायँ तो हम देखेंगे कि कवि के अन्दर अपनी रचनाएँ दूसरों को सुनाने की अथवा किसी प्रकार दूसरों के हृदय तक पहुँचाने की आकुलता रहती है। यदि आत्माभिव्यञ्जन, अभुक्त काम, पूर्णता का प्रयास इत्यादि से संबद्ध सिद्धान्त को ही हम मान लें तो कवि को अपनी कविताएँ लिख लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। उसकी रचनाएँ बोधगम्य हों (क्योंकि सार्थक शब्द-समूह के रूप में वह अरूप भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है) और पाठक उसे पढ़ें-सुनें, इसकी चिन्ता उसे क्यों होती है? पाठकों या श्रोताओं के हृदय के तार को तद्रूप झंकृत होते देखकर कवि का हृदय क्यों सन्तुष्टि पाता है? इसका एकमात्र कारण यही है कि काव्य-प्रेरणा के मूल में जो प्रवृत्ति है, वह है आत्मप्रसार की प्रवृत्ति—ससीम का असीमत्व की प्राप्ति की प्रवृत्ति। इसी में काव्य-प्रेरणा का मूल उद्गम है।

काव्योद्देश्य का प्रश्न अब इस रूप में हल होता है। कवि निरुद्देश्य रचना करता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पाठकों के पढ़ने-समझने की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि कवि-कर्म की पूर्ण सफलता अधिक-से-अधिक आत्मप्रसार में है। अतः इस दृष्टि से काव्य-रचना का उद्देश्य केवल रचना का आनन्द नहीं है, वरन् पाठकों को अभीष्ट रीति से प्रभावित कर अपनी आत्मा की सीमा में अन्तर्मुक्त कर लेना—अपनी आत्मा का परिधि-विस्तार करना है। इसमें कवि की आत्मा के आनन्द का मूल रहस्य निहित है। काव्यकला इसी अर्थ में सोद्देश्य है। उसके उद्देश्य द्रव्य-लाभ, यश-प्राप्ति, कान्ता के समान मधुर उपदेश देना आदि भी हों, लेकिन ये उद्देश्य मूलभूत, प्राथमिक और महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते।

---

१ आगे देखिए

# ६ काव्य का स्वरूप और उसकी परिभाषा

काव्य के स्वरूप के संबंध में पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों ने अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म विचार किया है। भारतीय काव्य-सिद्धान्तों के विकास-क्रम का अध्ययन करते हुए हम देख चुके हैं[1] कि कविता के स्वरूप के संबंध में भारतीय आचार्य-गण भी एकमत नहीं हैं। काव्य के स्वरूप की दृष्टि से हम इन आचार्यों को छः विशिष्ट संप्रदायों में वर्गीकृत कर सकते हैं। संस्कृत-समीक्षा-प्रणाली में काव्यालोचन संबन्धी ये छ संप्रदाय इसी प्रकार हैं—

(१) अलंकार को काव्य की आत्मा माननेवाला संप्रदाय—( भामह, रुद्रट आदि इसके प्रधान आचार्य थे। )

(२) ध्वनि को काव्य की आत्मा माननेवाला संप्रदाय—( आनन्दवर्धन इसके प्रवर्त्तक थे। )

(३) रीति को काव्य की आत्मा माननेवाला संप्रदाय।

(४) वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माननेवाला संप्रदाय—( यह अलंकारवादी संप्रदाय के ही अंतर्गत माना जा सकता है )

(५) रस को काव्य की आत्मा माननेवाला संप्रदाय—( विश्वनाथ इसके सर्वप्रधान आचार्य हैं )

(६) औचित्य को काव्य की आत्मा माननेवाला संप्रदाय—( भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्य उक्त संप्रदायों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें से प्रत्येक संप्रदाय ने काव्य के कुछ विशिष्ट तत्त्वों को प्रधान मानकर दूसरे तत्त्वों को अप्रधान माना है जिससे काव्य के रूप में बहुत अन्तर पड़ जाता है। )

अलंकारवादियों का कहना है कि अलंकार ही काव्य का सर्वस्व है।

---

१ देखिए तृतीय प्रकरण।

इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं—

(i) काव्य के सभी चमत्कारों का आधार अलंकार ही है।

(ii) काव्य के सभी चमत्कार अलंकार ही हैं, फलतः यदि 'रस' कुछ है तो वह भी अलंकार से पृथक नहीं। वर्ण्य विषय भी अलंकार के ही अन्तर्गत है।

ध्वनि को काव्य का सर्वस्व माननेवाला संप्रदाय भाषा की व्यञ्जना-शक्ति की प्रधानता में विश्वास करता है। काव्य में जहाँ व्यञ्जना के ही कारण अधिक चमत्कार हो वहाँ उसकी 'ध्वनि' संज्ञा होती है। ऐसी ही कविता उत्कृष्ट कही जायगी जिसमें ध्वनि का महत्त्व हो। रस भी व्यंग्य ही है, क्योंकि 'शृंगार' आदि शब्दों के उल्लेख मात्र से ही 'शृंगार' आदि रसों की अनुभूति नहीं होती।

रीति को काव्य में प्रधानता देनेवाला संप्रदाय वर्णन-पद्धति के महत्त्व को स्वीकार करता है। रस का या वर्ण्य विषय का महत्त्व गौण है, यह ऐसा मानता है।

वक्रोक्तिवादी संप्रदाय वाग्वैचित्र्य को ही काव्य का प्राण समझता है। इसके अनुसार वक्रोक्ति ही सभी अलंकारों के मूल में है। अलंकारवादी संप्रदाय से इसकी मान्यता बहुत भिन्न नहीं।

रस को काव्य की आत्मा[1] माननेवाला संप्रदाय संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्व रखता है। इसके अनुसार काव्य में जो चरम आस्वादनीय पदार्थ है, वह रस ही है। रसानुभूति का आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है; क्योंकि वह अलौकिक आनन्द है—लोक में इस कोटि का आनन्द दूसरा नहीं। अलंकार आदि रस-सृष्टि के साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। साध्य रस ही है। रस परिपाक के लिए चार तत्त्वों का योग चाहिए—

( i ) स्थायीभाव

( ii ) विभाव { आलंबन<br>उद्दीपन

( iii ) अनुभाव

( iv ) संचारीभाव

---

१ वाक्यं रसात्मकं काव्यं—विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण

स्थायीभाव कार्य है, विभाव कारण। अनुभाव स्थायीभाव का परिचायक है। इन सभी तत्त्वों की सम्यक् योजना रस-परिपाक के लिए आवश्यक है। औचित्यवादी संप्रदाय काव्य में औचित्य को प्रधानता देता है।

पंडितराज जगन्नाथ आदि कुछ परिवर्ती आचार्यों ने इन सभी तत्त्वों का समाहार करते हुए काव्य की कई कोटियाँ निर्धारित की हैं[1] और काव्य-शरीर का एक रूपक खड़ा किया है। कविता यदि एक कामिनी है तो रस (या ध्वनि) उसकी आत्मा है, शब्द और अर्थ (छन्द) उसका शरीर है, अलंकार उसके वस्त्राभूषण हैं, गुण-दोष और रीतियाँ उसके स्वभाव-संस्कार की विशेषताएँ हैं। गुण-दोषों का संबंध आत्मा—रस—से है, अलंकारों का संबंध शरीर—शब्द, अर्थ—से। अतएव अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के लिए हैं।

इस रूपक से स्पष्ट है कि ये आचार्य समष्टिरूप से काव्य में रस, शब्द और अर्थ, अलंकार, गुण-दोष और रीतियाँ आदि अनेक तत्त्वों की स्थिति मानते हुए भी रस को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। क्योंकि रस को आत्मा का स्थान दिया गया है। जिस प्रकार आत्मा के बिना सुन्दर से सुन्दर ढंग से अलंकृत शरीर भी निष्प्राण शव है, उसी प्रकार शरीर भी आत्मा के निवास के लिए आवश्यक है। अतएव रस के साथ शब्द और अर्थ दोनों का योग—यही काव्योत्कर्ष के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है; क्योंकि ये ही कविता-कामिनी का शरीर हैं। अलंकार का स्थान काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए साधन के रूप में ही माना गया है, स्वतंत्र या साध्य के रूप में नहीं। अलंकार के बिना भी कविता उत्कृष्ट हो सकती है यदि वह गुणयुक्त और दोष-रहित हो। (ओज, माधुर्य और प्रसाद आदि) गुण और (वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि) रीतियाँ भी काव्योत्कर्ष के साधन-मात्र हैं। ये काव्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं, वांछित अवश्य हैं।

कविता के स्वरूप के संबंध में प्राचीन भारतीय आचार्यों के मत हम देख

---

१ देखिए तृतीय प्रकरण (पंडितराज जगन्नाथ)

चुके। आधुनिक काल के सर्व-विख्यात आलोचक और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के सिद्धान्तों से हम अवगत हो चुके हैं।[१] काव्य-स्वरूप-संबंधी अपने विचार निर्णीत करने के पूर्व अब इतना आवश्यक रह जाता है कि हम पाश्चात्य विद्वानों के मतों से भी अवगत हो लें।

पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य की ये परिभाषाएँ दी हैं जिनसे काव्य के स्वरूप-संबंधी उनके मतों का पता चलता है :—

( क ) कविता प्रबल भावावेश की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है।[२]

( ख ) कविता सर्वश्रेष्ठ क्रम से श्रेष्ठतम शब्दों की योजना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।[3]

( ग ) कविता मानव की सम्पूर्ण आत्मा की क्रियाशीलता है।[४]

( घ ) कविता विभिन्नत्व में अभिन्नत्व है।[५]

( ङ ) कविता कल्पना की संश्लेषणात्मक और ऐंद्रजालिक शक्ति है।[६]

( च ) कविता जीवन की आलोचना है।[७]

( छ ) कविता महत्त्वपूर्ण आकृति में निहित है।[८]

( ज ) कविता संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है।[९]

---

१. देखिए तृतीय प्रकरण—( पं० रामचन्द्र शुक्ल )

२. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings.

३. Poetry is nothing but the best words in best order.

४. Poetry is the whole soul of man in activity.

५. Poetry is unity in variety.

६. Poetry is the synthetic and magical power of imagination.

७. Poetry is the criticism of life.

८. Poetry is significant form.

९. Poetry is the expression of impression.

काव्य-स्वरूप-संबन्धी उपर्युक्त परिभाषाओं में से अधिकांश काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी किसी-न-किसी संप्रदाय में अन्तर्भुक्त कर ली जा सकती हैं। (क), (ग), (घ), (ट) और (ज) रस-संप्रदाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि, (क) में रस के मूल-भूत स्थायी भाव का प्राधान्य मुक्त-कंठ से स्वीकार किया गया है। (ग) में आत्मा की क्रिया-शीलता के रूप में रस की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। रस मानवात्मा का ही नवनीत है—आत्मा की ही विशिष्ट आनन्दानुभूति को आचार्यों ने रस-संज्ञा दी है। (घ) में विभिन्नत्व में अभिन्नत्व की खोज में जड़ विश्व पर चेतन आत्मा की विजय की ओर संकेत है। विभिन्न जड़ आकारों में भीतरी अभिन्न तत्त्व चेतन आत्मा ही है जिसके स्पन्दन (आनन्द) को भारतीय आचार्यों ने रस माना है। (ट) में कल्पना की संश्लेषणात्मक शक्ति के कथन में रस के प्रधान तत्त्व आलंबन और उद्दीपन विभावों की धारणा निहित है। क्योंकि, कल्पना की ही शक्ति से कवि रसोद्रेक के लिए आलंबन प्रस्तुत करता है। कल्पना की मूर्त्ति विधायिनी शक्ति के ही कारण आलंबन और उद्दीपन की प्रतीति सहृदय पाठक को होती है और तभी उसे रस-दशा की प्राप्ति होती है। (ज) में भी रस-सिद्धान्त की स्वीकारोक्ति स्पष्ट ही है। शेष में (ख) और और (छ) का संबन्ध रीतिवादी संप्रदाय से जोड़ा जा सकता है। (च) में कविता के स्वरूप के विषय में संकेत नहीं है, केवल काव्य-विषय का निर्देश है। अतएव, पाश्चात्य विद्वानों का मत आकृति में भले ही नवीन हो, अपने मूल तत्त्वों की दृष्टि से हमारे लिए नवीनता नहीं रखता। अतः यहाँ उनकी स्वतंत्र व्याख्या अपेक्षित नहीं।

परस्पर-विरोधी इन समस्त विचारों के आलोक हम काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में अपना एक व्यापक और औचित्यपूर्ण मत निर्णीत कर सकते हैं:—

कविता अर्थपूर्ण शब्दों के माध्यम से मानव-अनुभूतियों की रागात्मक व्यञ्जना है जिसके सहारे कवि सहृदय श्रोताओं या पाठकों को अपनी आत्मा की परिधि में अन्तर्भूत कर लेने का सफल प्रयास करता है।

कविता का विषय है मानव-अनुभूति, उसकी पद्धति है रागात्मक व्यन्जना की पद्धति। उसका माध्यम है अर्थ-पूर्ण शब्द और उसका उद्देश्य है, मानव-हृदय का एक विशेष ढंग से स्पर्श कर उसमें तत्सदृश भावानुभूति उत्पन्न करना।

## ७—कविता के तत्त्व

अतः कविता के अनिवार्य तत्त्व हैं, अनुभूति ( भाव-रस ), शब्द और अर्थ, छन्द तथा प्रभाव-प्रेषणीयता।

अनुभूति—कवि अपनी हृदयगत अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना के लिए कविता लिखता है। लेकिन इन अनुभूतियों के कारण इनके बाह्य स्थूल आधार भी कुछ होते हैं या ये अकारण होती हैं? यह प्रश्न महत्त्व का है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इसका कोई स्थूल, भौतिक आधार बाह्य विश्व में होना आवश्यक है। वे कहते हैं कि जगत् और जीवन ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं और कविता इस अभिव्यक्ति—जगत् और जीवन—की अभिव्यक्ति है। अतः जगत् और जीवन के क्षेत्र से कविता का लगाव होना आवश्यक है। कवि की अनुभूतियों के आधार कुछ न कुछ स्थूल बाह्य विश्व में ही होने चाहिए। प्रत्यक्ष जगत् के उपादान ही कवि की अनुभूतियों या भावों के लिए उचित आलंबन हो सकते हैं; परोक्ष सत्ता, जो सूक्ष्म अगोचर, अतीन्द्रिय है, आलंबन नहीं बन सकती। इसी आधार पर शुक्लजी ने रहस्यवाद के अन्तर्गत आनेवाली परोक्ष पर आधारित प्रेमानुभूति को अस्वाभाविक और संदिग्ध ही नहीं, अवास्तविक और साम्प्रदायिक भी माना है। जहाँ तक साधारण मनुष्यों का सवाल है, शुक्लजी का कथन मान्य हो सकता है; क्योंकि साधारणतः सामान्य मनुष्यों की भावानुभूति बाह्य जगत् में आलंबन और उद्दीपन की सामग्रियों की प्रतिक्रिया-रूप में ही उद्भूत होती है। लेकिन कवि एक विशिष्ट प्राणी है—सूक्ष्म और अन्तर्भेदी है। वह वस्तु

के बाह्य रूप से ही प्रभावित नहीं होता, वरन् उसके आन्तरिक तत्व को भी देख लेता है। बाह्य विभिन्नता में न भटककर जब कवि की दृष्टि आन्तरिक अभिन्नत्व के दर्शन करती है, तो उसकी आत्मा इस ऐक्य के सौंदर्य से आह्लादित हो उठती है। इस आह्लाद की अनुभूति को अपनी संकुचित परिधि में समा लेने में असमर्थ उसका हृदय संगीत के स्वरों में अभिव्यक्ति की चेष्टा करता है और अमर कविता का जन्म होता है। गत युग में कबीर, दादू और वर्तमान युग में रवीन्द्र, महादेवी इसके उदाहरण हैं। और, जब उनकी रहस्यानुभूति हमें प्रभावित करती है—हमें रहस्योन्मुख बनाने में समर्थ है, तो हम कैसे मानें कि अनुभूति का स्थूल भौतिक आधार चाहिए ही। रहस्यदर्शी कवि के मानस में अकारण जो वेदना उमड़ती है, उसका कारण कहाँ खोजने से मिलेगा? इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि जिन दृश्यों में साधारण मनुष्य को कुछ भी सौंदर्य या महत्व की प्रतीति नहीं होती, उसमें कवि जीवन का कोई तत्व पा लेता है अथवा एक असाधारण महत्व की अनुभूति प्राप्त करता है। कभी-कभी एक सूखा पत्ता वृक्ष से गिरकर कवि की आत्मा में एक अतीव स्पन्दन पैदा करने के लिए पर्याप्त होता है। ठूँठ वृक्ष में नवांकुरित एक कोंपल को देखकर मृत्यु पर जीवन की चिरन्तन विजय की अनुभूति प्राप्त करनेवाले कवि के भावों के लिए आलंबन क्या वह स्थूल वृक्ष है? वृक्ष किसी विशिष्ट भाव का विशिष्ट आलंबन नहीं। वह एक जड़ जगत का स्थूल सत्य है। एक विशिष्ट भावानुभूति जाग्रत करने की क्षमता उसके अन्दर नहीं। भावानुभूति के लिए एकमात्र आधार कवि का अपना हृदय है। वृक्ष एक सहारामात्र है, जो उसके हृदय को थोड़ा प्रकम्पित भर कर देने में समर्थ है। यदि स्थूल जगत् के अतिरिक्त हमारी अनुभूतियों का कोई दूसरा कारण नहीं होता तो हम पाते कि एक आलंबन और एक उद्दीपन अनेक हृदयों में एक ही प्रकार (चाहे तीव्रता की मात्रा भिन्न हो) की अनुभूति जगाता। लेकिन हम ऐसा नहीं पाते। एक ही आलंबन 'शत्रु' किसी में वीरता और दूसरों में भय का भाव उत्पन्न क्यों करते हैं? तथा, एक छोटा-

सा नगण्य दृश्य भी आत्मा के गम्भीरतम स्तरों को आन्दोलित करने में समर्थ क्यों है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि अनुभूति या भाव की उद्भूति के लिये बाह्य जगत् के ( स्थूल आलंबनों ) की अपेक्षा सदा नहीं होती। अकारण भी अनुभूतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और समस्त जगत् और जीवन को अपने ही रंग में रँग दे सकती हैं। अनुभूतियाँ व्यक्तित्व की उमड़न हैं, और शक्तिशाली व्यक्तित्व ही काव्य-सृष्टि में समर्थ होता है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के धरातल पर पहुँचे कवियों के लिए यह संभव है कि अनुभूति विशिष्ट आलंबन की अपेक्षा नहीं रखे। और तब काव्यगत अनुभूति अकारण कही जायगी यदि 'कारण' स्थूल जगत् में ढूँढ़ना आवश्यक हो।

रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भाव को कार्य और विभाव को उसका कारण माना गया है। शुक्लजी ने कहा है कि भाव अन्तर्जगत् की विभूति है और विभाव—आलंबन और उद्दीपन—बाह्य जगत् के उपादान हैं। लेकिन हमने देखा, आलंबन स्थूल ही नहीं, बाह्य जगत् के ही नहीं, सूक्ष्म अथवा अन्तर्जगत् के भी हो सकते हैं। आलंबन जीवन का कोई भीतरी तत्त्व या अगोचर, असीम और परोक्ष सत्ता भी हो सकता है। और तब यह तत्त्व या परोक्ष-सत्ता स्वयं कवि की अनुभूति का अंग है। जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं, अनुभूति और उसका विषय, दोनों एकाकार होते जाते हैं ; अर्थात् अनुभूति अकारण भी हो सकती है।

मेरी इस मान्यता से रस-सिद्धान्त को आघात नहीं पहुँचता, यदि आलंबना का यह अर्थ नहीं लिया जाय कि वह बाह्यगोचर जगत् का ही कोई उपादान हो।

लेकिन यह सिद्धान्त ऐकान्तिक नहीं ; क्योंकि अनुभूति अकारण और सकारण दोनों हो सकती है।

कल्पना—जब अनुभूति सकारण होती है तब आलंबन से भाव तक पहुँचने के लिए—रस-दशा की प्राप्ति के लिए—कल्पना सहायिका बनती है। कल्पना बोध-वृत्ति है। इसका काम है संश्लेषण। जगत् और जीवन के बिखरे

अवयवों को लेकर कल्पना-वृत्ति कवि के मानस में आलंबन की संश्लिष्ट मूर्त्ति तैयार कर उसका बोध कराती है। आलंबन का मानस भूमि पर निर्माण और उसका बोध—ये उसके दो काम हुए। कल्पना द्वारा आलंबन का मानस-भूमि पर निर्माण आवश्यक है; क्योंकि आलंबन स्थूल रूप से सदा कवि के सामने प्रस्तुत नहीं होता। और तब उसकी कल्पना-प्रसूत मूर्ति ही भावोद्रेक करती है। इस निर्माण में यथार्थ का ही आधार होता है, क्योंकि कल्पना का काम जगत् और जीवन से उपादान लेकर संश्लेषण द्वारा ही किसी आलंबन-मूर्ति का निर्माण करना है, उन मूल-भूत उपादानों का सृजन करना नहीं। कल्पना नूतनात्मिका वृत्ति केवल इस अर्थ में है कि कल्पना द्वारा प्रस्तुत मूर्ति अभूतपूर्व होती है। अतः कल्पना का संबन्ध सत्य से—जीवन की वास्तविकता से अवश्य है। कल्पना जब मूर्ति-विधान कर लेती है तो उसका बोधमात्र कवि को वह करा देती है। बस, इतना ही कवि के साथ उसका संबंध है। असंलक्ष्य-क्रम से कवि के हृदय में भावोद्रेक इसके पश्चात् ही होता है। इस भावानुभूति के कलात्मक आनन्द को वह निसर्गतः दूसरों को बाँटकर भोगना चाहता है। अतः वह शब्दों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति इस ढंग से कराता है कि पाठकों के मानसपट पर भी आलंबन की कुछ ऐसी ही मूर्ति उदित हो जाय जैसी मूर्ति का साक्षात् उसने किया है। पाठक के हृदय में इस मूर्ति का अंकन भी कल्पना की संश्लेषणात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप ही संभव होता है। क्योंकि अलग-अलग शब्दों के अलग-अलग अर्थ-संकेतों को जोड़कर कल्पना ही एक सम्पूर्ण मूर्ति या वातावरण या परिस्थिति उत्पन्न करती है जिससे पाठक के हृदय में सुप्त भाव-रूप वासनाएँ उद्बुद्ध हो रस-अवस्था में परिणत होती हैं। कल्पना का संबंध, इसीलिए, केवल काव्य-रचना की प्रक्रिया में कवि से ही नहीं, वरन् काव्य-रसास्वादन की प्रक्रिया में पाठक से भी है।

जब अनुभूति अकारण होती है तो कल्पना का उपयोग कुछ भिन्न ढंग से होता है। रहस्यदर्शी कवि की आत्मा में जो अकारण या अज्ञात-कारण प्रेमानुभूति का स्पन्दन होता है, उसके लिए कल्पना के आलंबन प्रस्तुत करने की स्थूल आवश्यकता नहीं होती। कल्पना केवल कुछ

विशिष्ट रंग-रेखाओं को लेकर कवि-मानस में कुछ अस्पष्ट आकृतियाँ बना देती है जिसके धुँधले आधार पर कवि की अन्तर्वेधिनी दृष्टि सृष्टि और जीवन के मूलभूत रहस्यों को देख लेती है, उन रहस्यों को जो अरूप, अगोचर और अतीन्द्रिय होते हैं, और जिन्हें किसी भी रूप या वाणी द्वारा ठीक-ठीक प्रकट करना प्रायः असंभव होता है। यही सूक्ष्म रहस्य-दर्शन कवि की आत्मा को आनन्द-विह्वल बना देता है और वह आत्म-प्रसार की नैसर्गिक प्रेरणा से गा उठता है। उसके गीतों की प्रेरणा में आत्म-प्रसार शेष सृष्टि को अपनी आत्मा की परिधि में अन्तर्भुक्त कर लेने की प्रवृत्ति है। अतः पाठकों में रहस्यानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न उसकी अनिवार्यता है। लेकिन कैसे वह अपनी उस रहस्यमय अनुभूति को शब्द-संकेतों में बाँधे जो उसकी आत्मा में मूर्त्त आलंबन के सहारे नहीं उदित हुई? उसकी अनुभूति की प्रेषणीयता का माध्यम क्या हो? यह रहस्यदर्शी कवि की सबसे कठिन समस्या है। इस समस्या का सामना करने के लिए एक ओर जहाँ वह सूक्ष्म अर्थों की अभिव्यक्ति में अधिक समर्थ लक्षक और व्यञ्जक शब्दों का उपयोग करता है, वहाँ दूसरी ओर प्रभाव-साम्य के आधार पर कुछ ऐसे प्रतीकों का सहारा लेता है जो लोक-परिचित होने के साथ-साथ अभीष्ट अनुभूति की व्यञ्जना में अधिक दूर तक समर्थ हों। आध्यात्मिक प्रेम के लिए भौतिक दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक को अपनाने की आवश्यकता इसी कारण पड़ी। अब इन प्रतीकों का निर्माण कल्पना की संश्लेषणात्मक प्रक्रिया द्वारा सामान्य ढंग से होता है। पाठक-पक्ष में भी कल्पना ही इन प्रतीकों की प्रतीति कराती है और चूँकि ये प्रतीक प्रभाव-साम्य के आधार पर चुने होते हैं, इसीलिए इनमें उपयुक्त पात्र में अभीष्ट अनुभूति को कुछ अंशों में जाग्रत करने की क्षमता होती है। अतः जब अनुभूति इस कोटि की होती है, तो कल्पना का काम अधिक क्लिष्ट ( Complex ) हो जाता है। आलंबन के मूर्त्ति-विधान के पहले प्रभाव-साम्य की दृष्टि से आलंबन के प्रकार के निर्णय में भी उसे योग देना होता है।

**भाव, रस और अनुभूति**—भाव, रस अनुभूति में अन्तर है। मन की

रागात्मिका वृत्ति—जिसमें वस्तु के साथ बोध-वृत्ति के समान ज्ञाता-ज्ञेय संबन्ध ही नहीं रहता, वरन् वस्तु के साथ तादात्म्य-स्थापना की प्रवृत्ति रहती है—जब किसी कारण उद्बुद्ध और क्रियाशील होती है तो भाव का उद्रेक होता है। उत्साह, प्रेम, करुणा, हास्य, ममता, लज्जा आदि ( स्थायी और संचारी ) भाव हैं। जब कलाकार की प्रतिभा इन भावों में आनन्द-विधान करती है—जब ये भाव कला-कृति में आनन्द ही देनेवाले बनते हैं—तो रस की सृष्टि होती है। रस में भाव अपनी उस परिपक्वावस्था में होता है जब वह व्यक्तिगत संबंध छोड़कर साधारणीकृत हो जाने के कारण सभी अवस्थाओं में आनन्द-विधायक ही हो जाता है। रौद्र, करुण, वीभत्स आदि रसों से भी इसी हेतु आनन्द की ही उपलब्धि होती है; भय, शोक, दुःख आदि की नहीं। अनुभूति कुछ अधिक गहरी और स्थायी वस्तु है। जीवन और जगत् के सत्य यदि केवल बोध-वृत्ति द्वारा ज्ञान के विषय न रहकर रागात्मिका वृत्ति द्वारा विश्वास-भूमि पर भी अपना स्थान बना लें और वह सत्यानुभव यदि स्थायी उन्मेष की छाप छोड़ जाय तो हम इसे अनुभूति कहेंगे। भाव या रस उद्रेक के समय ही अपना अस्तित्व रखता है, विलीन होने पर उसके संस्कार-मात्र सुषुप्त रूप से व्यक्ति के हृदय में बच रहते हैं। पर अनुभूति के क्षणस्थायी जाग्रत प्रभाव छोड़ जाते हैं, जो चेतना की अमूल्य निधि के रूप में सदैव वर्त्तमान होते हैं।

अतः लोक में जो सुख-दुखमय भाव है, वही कला में चिरानन्द रूप रस बन जाता है, और यदि बोध-वृत्ति के सहयोग से उसे चेतना में स्थायी आसन मिला तो वह अनुभूति संज्ञा भी धारण करता है।

शब्द और अर्थ—शब्द-शक्तियों का जितना वैज्ञानिक और सूक्ष्म अध्ययन संस्कृत काव्य-शास्त्र में है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय में गहरे अनुसन्धान नहीं किये हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में शब्द की तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी गयीं—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना। हमारी भाषा—चाहे साहित्य में अथवा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त हो—इन्हीं शक्तियों के सहारे अर्थ की अभिव्यक्ति करती है। जाने-अनजाने हम इन

शक्तियों का प्रयोग अवश्य करते हैं। कविता में भाषा के अधिक प्रभावशाली होने की आवश्यकता के फलस्वरूप इन शक्तियों का सचेत प्रयोग होता है। कविता की भाषा में अभिधार्थ से अधिक लक्ष्यार्थ और उससे अधिक व्यंग्यार्थ का महत्त्व है। जिसे रस कहते हैं, वह व्यंग्य ही है। श्रृंगार या वीर रस के उच्चारणमात्र से इनकी अनुभूति नहीं होती, वरन् इन रसों के विभिन्न अवयवों—स्थायी भाव, आलंबन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव—की संश्लिष्ट योजना द्वारा इनकी व्यंजना ही होती है। मानव-हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति अपना उद्देश्य रखने के कारण कविता में कवि को व्यंजना और लक्षणा वृत्तियों का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। इनके प्रयोग से भाषा अधिक सशक्त और गूढ़ातिगूढ़ भावाभिव्यक्ति में समर्थ होती है। यह इसलिए आवश्यक है, क्योंकि कविता की चरम सफलता, प्रभाव प्रेषणीयता—कवि की अनुभूतियों द्वारा पाठक को प्रभावित करने की क्रिया में है और प्रभाव ( impression or experience ) की इस प्रेषणीयता के लिए माध्यम उपयुक्त होना जरूरी है। अतः कविता की भाषा गद्य की भाषा से व्यंजना के प्राधान्य के कारण भिन्न होगी ही।

लक्षणा-व्यंजना आदि के प्रयोग के अतिरिक्त अलंकार, प्रतीक-पद्धति आदि का उपयोग भी कविता में इसी उद्देश्य से वोधित है कि भावों या अनुभूतियों की प्रेषणीयता में भाषा अधिक समर्थ बने।

अलंकार—अलंकार भाषा के वे उपकरण हैं जिनके द्वारा विचारों और भावों की अभिव्यक्ति में सौंदर्य अथवा अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि होती है। अलंकार इसी हेतु शैली का एक विशिष्ट तत्त्व है; कविता के विषय अथवा रस अथवा अनुभूति का अंग नहीं। अलंकार या उक्तिवैचित्र्य द्वारा कवि को अपने भावों और अनुभूतियों की व्यंजना में—उन्हें पाठकों के हृदय तक प्रेषण करने में सहायता मिलती है; अतएव अलंकार कविता के साधन-रूप हैं, चरम साध्य नहीं। साध्य तो है अनुभूतियों की प्रेषणीयता। अतः अलंकार कविता के लिये अनिवार्य नहीं, उपादेय हैं।

अलंकारों के प्रयोग के समय यदि कवि उसके प्रति सचेत हो जाता है, तो कविता अलंकार-बोझिल हो जायगी। भावोन्मेष के क्षणों में कवि को अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा खोजनी नहीं पड़ती, मानों भाव ही भाषा के रूप धारण कर लेते हैं। रस रूप बन जाता है—वाणी में साकार हो उठता है। और इस प्रक्रिया में भाषा में स्वतः अलंकारों का समावेश हो जाता है। अलंकारों के ऐसे नैसर्गिक उपयोग से भाव को बल मिलता है—उसकी सम्यक् और यथोचित अभिव्यक्ति हो जाती है। लेकिन ऐसे कवि की दृष्टि अलंकारों ही पर नहीं रहती, उसका चरम साध्य भाव ही हुआ करता है। उसकी अन्तश्चेतना की संश्लेषणात्मक प्रतिभा कल्पना के सहारे भाषा में अलंकार-विधान अचेतन रूप से पर अत्यन्त कौशल-पूर्वक किया करती है।

बहुत-से कवि-नामधारी व्यक्ति अलंकार-वैचित्र्य के प्रदर्शन द्वारा जब पाठकों या श्रोताओं का मनोरंजन करना चाहते हैं, तो उनकी कविता में अनुभूति या रस के अभाव में अलंकार ही कविता के चरम साध्य के आसन पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं। ये कवि ( ? ) पाठकों के हृदयतल में भावावेश जाग्रत करने में असमर्थ, पाठकों के संस्कारों के परिष्कार में अयोग्य और मानव-मनोवृत्तियों की मार्मिकता से अनभिज्ञ होने के कारण पाठकों के अन्दर कौतूहल और जिज्ञासामात्र जाग्रत करते हैं। इनकी कविताओं में अद्भुत रसाभास के छींटे यत्र-तत्र मिलते हैं।

अभिव्यञ्जनावाद के अन्तर्गत जहाँ शैली को ही काव्य का प्रधान तत्त्व माना जाता है, अलंकार चाहे कितना ही आहत क्यों न हो, लेकिन भारतीय काव्य-सैद्धान्तिकों में से अधिकांश ने अलंकार को कविता का एक गौण उपकरण ही माना है और उसकी अपेक्षा उसी सीमा तक मानी है जहाँ तक वह भाव-व्यञ्जना और अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए आवश्यक हो। हमें यह मत अवश्य मान्य होना चाहिए।

छन्द—जिस प्रकार कविता की आत्मा रस है और उसके वस्त्राभूषण

अलंकार, उसी प्रकार छन्द ही कविता का शरीर है—वह स्थूल शरीर, जो स्वतः सुन्दर और स्वस्थ होते हुए भी जहाँ वह एक ओर अपनी शोभा के लिए अलंकारों की अपेक्षा रखता है वहाँ दूसरी ओर सक्रियता और प्रभावशीलता के लिए भावों, इच्छाओं और अनुभूतियों का मुखापेक्षी है।

छन्द मात्राओं और वर्णों की वह योजना है जिसमें भाषा एक निश्चित क्रम से शक्तिमान होकर लय और संगीत की उद्भावना करती है। संगीत छन्द का चिर सहचर है और संगीत के उपकरण नाद, लय और ताल उसके अनुचर। छन्द दो प्रकार के होते हैं—वर्णिक और मात्रिक, जिनमें क्रमशः वर्णों और मात्राओं की निश्चित योजना होती है, लेकिन इनके अतिरिक्त छन्द-शास्त्र के इन बन्धनों को तोड़कर चलनेवाला रबर छन्द में भी कविता की आत्मा का निवास उतने ही सहज रूप से हो सकता है जिस प्रकार शास्त्रानुमोदित वर्णिक या मात्रिक छन्दों में। क्योंकि रबर छन्द में भी नाद-योजना के कारण एक विशिष्ट प्रकार के संगीत की सृष्टि होती है।

छन्द कविता में आवश्यक इसलिए है, क्योंकि काव्य-कला का उद्देश्य एक विशिष्ट प्रणाली से अनुभूतियों की प्रेषणीयता है और यह विशिष्ट प्रणाली जहाँ एक ओर सार्थक शब्द-समूह की व्यञ्जना-शक्ति और उसकी व्यंग्यवस्तु रस का सहारा लेकर चलती है वहाँ दूसरी ओर शब्दोच्चारण-प्रक्रिया, पदों की ध्वन्यात्मकता, पंक्तियों के लय-प्रवाह तथा नाद-सौंदर्य और समस्त कविता की संगीत-शक्ति पर भी आधारित है। छन्द का उद्देश्य इसी अपेक्षित संगीत की सृष्टि है।

## ८ काव्य का अन्य कलाओं एवं शास्त्रों से सम्बन्ध

काव्य-शास्त्र और काव्य-कला—काव्य-शास्त्र एक विज्ञान है। अतः इसकी प्रक्रिया विश्लेषणात्मक है और धरातल बौद्धिक। काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत हम बोध-वृत्ति का सहारा लेकर कविता के अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण कर उसका अध्ययन करते हैं। कविता क्या है? काव्य के विभिन्न अवयव कौन-

कौन-से हैं? शब्द-शक्तियाँ, रस, अलंकार, छन्द आदि का कविता में क्या स्थान है, आदि विषयों का अध्ययन हम काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत करते हैं।

लेकिन काव्य-कला संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। मानव-जीवन और प्रकृति से उन अवयवों को चुनकर जो मानव-भावनाओं का विशिष्ट रूप में आधार बन सकते हैं, कवि एक प्रभाव की सृष्टि करता है—वह अर्थपूर्ण शब्दों के सहारे अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा पाठकों के हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है और पाठकों को तदनुरूप प्रभावित करता है।

इस स्थान पर यह कह देना आवश्यक होगा कि विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है कि व्यावहारिक काव्य वस्तुतः एक कला है या उससे भी कोई ऊँची चीज। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को कलाओं के अन्तर्गत नहीं माना है। उनके अनुसार कविता मानव-मन की रस-दशा की अभिव्यक्ति है और रस-दशा हृदय की उस मुक्तावस्था का नाम है जब हृदय लौकिक बन्धनों से मुक्त होकर आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। अतः काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, क्योंकि वह इस आध्यात्मिक मुक्तावस्था अथवा रस-दशा की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है। काव्य कला इसलिए नहीं है, क्योंकि कला मानव-कृति होने के कारण अनैसर्गिक और कृत्रिम है। कला लौकिक है और काव्य आध्यात्मिक है। कला कौशल की सचेतन अभिव्यक्ति है और काव्य हृदय की स्वाभाविक ( spontaneous ) मुक्तावस्था का परिणाम। लेकिन आचार्य शुक्ल के ये विचार सर्वांश में भ्रमरहित नहीं। कला का विवेचन करते समय शुक्लजी के सामने या तो प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से प्रतिपादित वे स्थूल कलाएँ थीं जिनके अन्तर्गत काम-कला भी है, या नहीं तो बेनडिटो क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) और इससे मिलते-जुलते सिद्धान्तों के आलोक में की गयी कला की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ थीं। अभि-व्यञ्जनावाद के अन्तर्गत अवश्य ही कला एक ऊपरी और बाहरी चीज है, मानव-जीवन की गंभीर मार्मिकता से जिसका सम्बन्ध नहीं। लेकिन कला की यह व्याख्या नितान्त ऐकान्तिक नहीं। राय कृष्णदास और यूरोप के टाल्सटाय

और आई० ए० रीचर्ड्स के सिद्धान्तों के अनुसार कला का सम्बन्ध जीवन से है। न तो कला स्वयं अपना उद्देश्य है और न कला उक्ति-वैचित्र्य के प्रदर्शनमात्र में निहित है। टालस्टाय की परिभाषा कला के सच्चे स्वरूप को सामने लाने में बहुत दूर तक सहायक है—"कला इस बात में निहित है कि एक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक ( जान-बूझकर ) कुछ विशिष्ट बाह्य संकेतों द्वारा अपनी भावनाओं को दूसरों तक पहुँचाता है और ये भावनाएँ इन दूसरे व्यक्तियों में संक्रमित होती हैं और वे उनका अनुभव करते हैं। कला अनुभूतियों की प्रेषणीयता है।" १

इस परिभाषा के आलोक में हम काव्य को कलाओं के अन्तर्गत रखकर भी उसके महत्व को शुक्लजी के धरातल पर बनाये रख सकते हैं। अतः काव्य एक कला है और उसका उद्देश्य कवि की अनुभूतियों को पाठकों के हृदय तक पहुँचाकर उन विशिष्ट अनुभूतियों द्वारा पाठकों के व्यक्तित्व का अज्ञात रूप से परिमार्जन है। कला का उद्देश्य और कला का महत्त्व ही यही है।

**काव्य-कला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध**—काव्य-कला अन्य कलाओं से जहाँ एक ओर घनिष्ठ सूत्र में बँधी हुई है, वहाँ उसका इन कलाओं से सूक्ष्म अन्तर और अपनी विशेषता भी है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने हीगेल और हडसन के अनुसार कलाओं में परस्पर उत्कर्ष की कसौटी, उनके मूर्त या स्थूल आधार की न्यूनता मानी है। प्रथम कलाओं के दो वर्ग किये गये हैं—व्यावहारिक कला और ललित कला। व्यावहारिक कला का उद्देश्य

---

१ "Art consists in this that one man willingly by means of certain external signs hands on to others feelings he has lived through and that others are infected by these feelings and also experience them.........Art is communication of experience."

( What is Art by Count Leon Tolstoy. )

सौन्दर्य द्वारा ( Aesthetic ) आनन्द की प्राप्ति नहीं है वरन् जीवन की कोई इतर उपयोगिता है। परन्तु ललित कला का उद्देश्य सौन्दर्य-सृजन द्वारा आनन्द-दान-मात्र है। ललित कलाओं के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्यकला, काव्यकला और संगीतकला का स्थान है। स्थूल आधार की न्यूनता के कारण ये कलाएँ इसी क्रम से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं। काव्यकला और संगीतकला में क्रमशः अर्थपूर्ण शब्द और स्वर आधार-रूप में रहते हैं। शब्द स्वर से अधिक स्थूल होने के कारण संगीतकला को काव्यकला से कुछ विद्वानों ने ऊँचा माना है। १

संगीत और काव्य का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। संगीत स्वर के आरोह-अवरोह द्वारा ताल और लय के सहारे कलाकार की भावनाओं को श्रोताओं तक पहुँचाने का माध्यम है और काव्य शब्द-संकेत द्वारा कल्पना के सहारे इन अनुभूतियों का वहन करता है। लेकिन गद्य और पद्य में जो अन्तर है वह यही है कि गद्य में शब्द-संकेतों से अर्थ-ग्रहण मात्र होता है, लेकिन पद्य में भाषा को संगीत का सहयोग मिल जाता है। पद्य में मात्राओं और वर्णों ( गणों ) की गणना होती है। विशिष्ट योजना के कारण भाषा में संगीत के तत्त्व—ताल और लय—सन्निविष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप कविता में जहाँ एक ओर अर्थ की मार्मिकता से पाठक या श्रोता रस की प्रतीति करता है वहाँ दूसरी ओर पंक्तियों की संगीतात्मकता के कारण उपर्युक्त रसानुभव में सहायता मिलती है। शर्त यह है कि पद्य का संगीत-तत्त्व उसके भाव-तत्त्व का विरोधी न होकर उसके अनुकूल हो। संस्कृत साहित्य में इसी हेतु काव्य-शास्त्रकारों ने विशिष्ट छन्दों को विशिष्ट रसों के लिए ही उपयुक्त माना है। हम देखते हैं कि आजकल कवि-सम्मेलनों में कविता-पाठ करनेवाले कवियों की सफलता का कुछ श्रेय, उनके मधुर कण्ठ या संगीतज्ञान को भी अवश्य रहता है। इसका कारण काव्य में संगीत के संयोग की अनिवार्यता ही है। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि

---

१ 'साहित्यालोचन'—बाबू श्यामसुन्दर दास ( कला )

रता है और वह आरोप मिथ्या इसलिए नहीं है, क्योंकि कवि के हृदय ने
से सत्य के रूप में अनुभव किया है और काव्य में कवि-हृदय की इसी अनुभूति का प्राधान्य है। लेकिन एक वैज्ञानिक के सामने अनुभूति का सत्य उतना महत्त्व नहीं रखता जितना बाह्य और यथार्थ सत्य; क्योंकि अनुभूति व्यक्तिगत वस्तु है और वैज्ञानिक विश्वजनीन और सार्वकालिक सत्य की खोज करता है।

**कविता और आचार-शास्त्र**—अभिव्यञ्जनावाद के अन्तर्गत यद्यपि शैली-वैचित्र्य को ही काव्यकला का प्रधान तत्त्व माना गया है, फिर भी यूरोप के बहुत-से विद्वानों ने काव्य का अनिवार्य सम्बन्ध जीवन से माना है। काव्य भारतवर्ष में भी सोद्देश्य ही माना गया है और इसके उद्देश्यों में अर्थ और यश की प्राप्ति के अतिरिक्त मानव-जीवन का परिष्कार भी मान्य हुआ। भारतीय मनीषियों ने काव्य का अनिवार्य सम्बन्ध आचार-शास्त्र से माना है। चूँकि आचार-शास्त्र जीवन के परिष्कार के नियम बतलाता है। कविता मनोवृत्तियों को अनुशासित और परिष्कृत करती है और इसीलिए आचार-शास्त्र के उद्देश्य की सिद्धि भी इसके द्वारा होती है। लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि कविता में खुला उपदेश हो। कवि उपदेशक नहीं। कविता में उपदेश अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से व्यञ्जित रहता है, घोषित नहीं। उपदेश की स्पष्ट घोषणा से कविता के अपेक्षित प्रभाव में बाधा होगी और पाठक रस-दशा की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे। उपदेश का समावेश कविता में विषय, कथा-वस्तु, चरित्र, भाषा-शैली आदि के चुनाव और उनकी योजना के कौशल द्वारा होना चाहिए। और यह तभी संभव है जब कवि व्यावहारिक जीवन में आचार-शास्त्र के नियमों का पालन करता हो। कविता में कवि का पूरा व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है और कवि व्यञ्जना द्वारा आचार और नीति की बातों की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब उसका व्यक्तित्व इन बातों के साँचों में ढला हो। चेष्टापूर्वक आचार-शास्त्र को कविता के ऊपर आरोपित कर देना काव्य के लिए घातक है।

**काव्य और दर्शन**—दर्शन का धरातल बौद्धिक है और काव्य का

रागात्मक। दर्शन की प्रक्रिया है जिज्ञासा, चिन्तन, ज्ञान। काव्य की प्रक्रिया है कल्पना, भावना, अनुभूति। फिर भी दर्शन और काव्य की प्रक्रियाओं में एक समानता है—दोनों संश्लेषणात्मक हैं। दर्शन ज्ञान के लिये अवयवों को जोड़कर सत्य के संश्लिष्ट स्वरूप को देखने का प्रयास करता है और काव्य जीवन के विविध अवयवों के एकीकरण द्वारा मानव-मन पर संश्लिष्ट प्रभाव डालने की अभिलाषा रखता है। विज्ञान और दर्शन दोनों का आधार बौद्धिक है, लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि विज्ञान सत्य को खण्ड-खण्ड करके देखता है और दर्शन सत्य का समन्वीकरण करता है। कविता में जहाँ एक ओर विज्ञान का खंड-सत्य भी काम आता है वहाँ दूसरी ओर दर्शन के संश्लिष्ट सत्य का भी महत्त्व है। हम आगे चलकर ('काव्योत्कर्ष के मानदण्ड' शीर्षक अध्याय में) बतलायेंगे कि दार्शनिक विचारों का काव्योत्कर्ष से क्या संबंध है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि यदि कविता का सम्बन्ध जीवन से है तो उसका महत्त्व उसके आधारभूत दार्शनिक तत्त्व के अनुपात में ही होगा। कवि अत्यन्त भावुक होते हुए भी चिन्तनशील प्राणी हुआ करता है। उसकी अन्तर्दृष्टि जीवन के मर्म की खोज में अनायास ही सहज भाव से लगी रहती है। इसी हेतु उसकी वाणी में कुछ ऐसा आलोक रहता है जिससे जीवन के उन मार्मिक रहस्यों की ओर पाठकों का ध्यान बरबस ही खिंच जाता है जिनकी ओर साधारणतः हम कभी ध्यान भी नहीं देते।

इसका आशय यह नहीं कि कविता में दार्शनिक विचार ठूँस-ठूँस कर भरे होने चाहिए। हृदय की वाणी होने के कारण कविता में भाव और अनुभूति का ही प्राधान्य है—दार्शनिक का शुष्क चिन्तन उसमें उसी सीमा तक स्थान पा सकता है जहाँ तक रस-परिपाक में बाधा न पड़े। काव्य दार्शनिक सिद्धान्तों को अत्यन्त सरस रूप में अभिव्यञ्जित कर सकता है, उन्हें अपने वास्तविक रूप में पेश नहीं कर सकता। अतः कवि को इस बात से सावधान रहना चाहिए कि उसकी रचना में भाव और रस दार्शनिक विचारों से बोझिल न हो जायँ।

**कविता और समाजशास्त्र**—समाजशास्त्र के अन्तर्गत राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों को ले सकते हैं। मनुष्य के सामूहिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों और सिद्धान्तों का अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत होता है। काव्य-कला व्यक्ति का ही एकान्त साधना है, उसमें समष्टि का नहीं, व्यक्ति का जीवन प्रधान रूप से बोलता है। बुद्धि-तत्त्व के बदले रागात्मक तत्त्व पर आधारित होने के कारण कवि का निजी व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है और चूँकि कवि एक विशिष्ट प्राणी है—जनसाधारण से अपनी विशेषता रखता है, इसलिए उसकी रचना में सामाजिक जीवन की सापेक्ष्य व्याख्या होती है। सामाजिक सिद्धान्त कवि के व्यक्तित्व के रंग में रँगकर अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं। कवि की भावना के रंगीन चश्मे से समाज अपने यथार्थ रूप से कुछ भिन्न नजर आता है; इसलिए हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि कवि विशेष राजनीतिक या आर्थिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति करेगा। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की शुष्क अभिव्यक्ति करनेवाला प्रगतिशील लेखक कलाकार के उच्चासन पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। साहित्य प्रगतिशील तभी कहला सकता है और कला की परिधि में तभी परिगणित हो सकता है जब उसमें रागात्मक-संक्रमण ( Emotional infection ) का विशेष तत्त्व वर्त्तमान हो और यह तभी संभव है जब कवि या साहित्यकार राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या रागात्मक ढंग से करे। उनकी अभिव्यक्ति में अपनी अनुभूति का समन्वय करे।

**काव्य और इतिहास**—इतिहास काव्य के लिए पृष्ठभूमि, कथावस्तु, चरित्र आदि प्रस्तुत कर सकता है और कवि अपने कौशल से इतिहास के पृष्ठों से उन मार्मिक परिस्थितियों का चयन कर सकता है जिनमें रस-व्यञ्जना के लिए अवकाश हो। अतीत से वर्तमान को प्रेरणा और पथ-निर्देश मिलता है और चूँकि इतिहास मानव-समाज के अतीत का अक्षरकोष है, इसलिए इतिहास पर आधारित काव्य समाज की प्रगति का साधक हो सकता है। प्रबन्ध-काव्य में इतिहास जितनी सामग्री प्रस्तुत कर सकता है, उतनी मुक्तक में नहीं। फिर भी इतिहास के मार्मिक और सरस प्रसंगों को लेकर

सजीव मुक्तक कविताओं की रचना संभव है। लेकिन कवि-कर्म केवल ऐतिहासिक घटनाओं की शुष्क सूची देने में या ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों के नाम गिनाने में नहीं है। कविता में स्थान पाने के पहले उन घटनाओं और उन नामों को कवि के आन्तरिक रस प्रवाह में स्नात होकर प्राणवान होना होगा जिसमें वे मानव-मन को छूने में समर्थ हों।

# ६

# काव्योत्कर्ष की कसौटी

[ काव्योत्कर्ष का विषय इतना सूक्ष्म, गंभीर और विस्तृत है कि इसपर संक्षेप में अंतिम रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। कविता के उत्कर्ष की परख हम सापेक्ष धरातल पर ही कर सकते हैं और निम्नलिखित विचा इसी रूप में ग्राह्य हैं। ]

## ( i ) काव्यागों की दृष्टि से

कविता के विविध अंग-उपांगों के पृथक-पृथक् उत्कर्ष पर और उनके सम्यक् सम्बन्ध तथा सामंजस्य पर कविता का उत्कर्ष निर्भर है। अतएव काव्यांगों के उत्कर्ष पर अलग-अलग और फिर सम्मिलित रूप से विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) कविता का विषय—कविता का विषय महत्त्वपूर्ण हो या नहीं और विषय के महत्त्व से कविता के महत्त्व का कोई सम्बन्ध है या नहीं, इसपर प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पहले कहा जा चुका है कि अभिव्यञ्जनावादी कलाकार कविता के विषय का काव्योत्कर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। उनके अनुसार विषय कविता नहीं है, विषय

का अभिव्यञ्जन कविता है और अभिव्यञ्जन की रीति के उत्कर्ष के अनुपात में ही कविता उत्कृष्ट होती है। लेकिन हम देखते तो यह हैं कि शैली या अभिव्यञ्जना-प्रणाली के उत्कर्ष के बिना भी कविगण अमरत्व के उच्चासन पर अधिष्ठित किये गये हैं। प्रातःस्मरणीय महात्मा सूरदास और संत कबीर के पद हमें अपनी शैली के उत्कर्ष से चमत्कृत नहीं करते वरन् अपने भाव-गांभीर्य और रसानुभूति की मार्मिकता के कारण हमारे हृदयों का स्पर्श करते हैं। अतः अभिव्यञ्जनावाद को हम सर्वांश में सत्य की जयमाला नहीं पहना सकेंगे। विषय का महत्त्व काव्योत्कर्ष की दृष्टि से है। इसके प्रमाणस्वरूप संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य भाषाओं से बहुत अधिक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कालिदास, भवभूति, सूरदास, तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त तथा मिल्टन, शेक्सपीयर और गेटे की उत्कृष्टतम रचनाओं का अक्षय महत्त्व विषय-सापेक्ष है, शैली सापेक्ष नहीं।

(i) शाश्वत तत्त्व—विषय की दृष्टि से हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि कविता का विषय ऐसा है कि नहीं कि उसका महत्त्व चिरकालीन हो। क्या युग-युग में उस विषय के कारण कोई विशिष्ट कविता मानव-हृदय के लिये आकर्षण और आस्वादन की वस्तु रहेगी? अमर विषय के कारण कविता निश्चित रूप से अमर हो जाती है। प्रश्न यह है कि कविता के अमर विषय कौन-से हैं? वे कौन-से अक्षय तत्त्व हैं जो कविता को युग-युग के लिये महत्त्वशील बना अमरत्व की प्रतिष्ठा देते हैं? सबसे पहले मानव-हृदय की वे मूल प्रवृत्तियाँ, वे सनातन भावानुभूतियाँ जो युग-युग में मानव-हृदय में एक ही प्रकार से उठा करती हैं और मानव-जीवन में एक ही प्रकार की प्रेरणा देती हैं। प्रेम, विरह, व्यथा, हर्ष, शोक, उत्साह, घृणा, क्रोध, भय, हास्य, ममता, स्नेह, आश्चर्य, जिज्ञासा आदि ऐसे मनोविकार हैं, ऐसे भाव हैं, जो शाश्वत और चिरन्तन कहे जा सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक युग में अपने अनावृत रूप में इनका मूल-

स्वरूप बहुत कुछ एक ही रहता है। यही कारण है कि क्रौंच-वध से मर्माहत आदिकवि की वाणी आज भी सहृदयों के हृदय को करुणान्वित बना आन्दोलित कर जाती है और आज भी मेघदूत का स्वप्न हमारे लिए उतना ही सत्य है जितना विरह-विधुर प्रवासी यक्ष के लिए। अतः काव्योत्कर्ष के लिए यह एक आवश्यक बात है कि कविता का विषय मानव के उन मूलभूत शाश्वत वृत्तियों पर अवलंबित हो जिनका स्वरूप विभिन्न परिस्थिति और विभिन्न कालों में बहुत कुछ अक्षुण्ण रहता है और जो वृत्तियाँ एवं जो भाव मानव के अन्दर मानव होने के नाते सदा उठा करेंगे।

(ii) विश्वजनीन तत्त्व—विषय की दृष्टि से दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कविता का विषय विश्वजनीन हो। कविता यद्यपि कवि के हृदय की वाणी है और यद्यपि कवि समाज का एक पृथक् इकाई है, फिर भी कवि के व्यक्तित्व की आवाज में एक सामान्य मानव-हृदय का संगीत मुखरित होता है—एक ऐसे सामान्य मानव-हृदय का जिसे व्यक्ति-व्यक्ति अपना कह सकता है। तात्पर्य यह कि कवि के भाव और विचार का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से इस रूप का न हो कि उसमें दूसरों के व्यक्तित्व की छाया न दीख पड़े। जब कवि के भाव सर्व-साधारण की भाव-परिधि के भीतर की वस्तु होंगे तभी उनका साधारणीकरण और दूसरों के लिए उनका आस्वादन संभव होगा।

यद्यपि देश और संस्कृति द्वारा कवि के व्यक्तित्व का निर्माण होता है और यद्यपि इस व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी कविता पर पड़ना अनिवार्य है, फिर भी कवि का विषय और उसके भाव ऐसे हों जो कवि की परिस्थितियों की सीमाओं के बाहर भी उतने ही महत्त्वशील हों जितना वे स्वयं कवि के लिए हैं। भारत में लिखनेवाला कवि भारतीय जीवन का स्वरूप भी इस ढंग से उपस्थित करे कि इसमें यूरोप और अमेरिका के पाठकों के लिए भी आस्वादन और आकर्षण के तत्त्व अक्षुण्ण रह सकें। यह तभी संभव है

अब वह कवि भारतीयता से अधिक मानवता के चित्रण की ओर उन्मुख होगा; क्योंकि देश, जाति, वर्ग, राष्ट्र और परिस्थितियों की विविधता के बीच एकसूत्रता या भीतरी ऐक्य की स्थापना इसी मानव-तत्व द्वारा होती है। और इसलिये जब कविता का विषय "मानव" और उसकी अनुभूतियाँ हों, जो मानव होने के नाते उसके हृदय को आन्दोलित करती हैं, किसी विशिष्ट वर्ग या संस्कृति के नाते नहीं, तो उस कविता का महत्त्व संसार भर के सहृदय जनों के लिए बहुत कुछ समान होगा।

( iii ) सौंदर्य—काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विषय में यथेष्ट रूप से सौंदर्य-तत्त्व वर्तमान रहे। क्योंकि काव्यान्तरगत रस के आस्वादन के लिए सौंदर्य-तत्त्व आवश्यक है। पर, प्रश्न यह है कि किस प्रकार का सौन्दर्य कविता में अपेक्षित है ; क्योंकि सौन्दर्य के अनेक प्रकार हैं। स्थूल बाह्य सौंदर्य से सूक्ष्म भाव-सौंदर्य अधिक श्रेयस्कर है। इसीलिए भारतीय वाङ्मय में सदा से रूप-सौंदर्य की अपेक्षा भाव-सौंदर्य को अधिक महत्त्व दिया गया है। यद्यपि पाश्चात्य कलाकारों ने, विशेषतः ग्रीस के प्राचीन कलाकारों ने, शरीरावयवों के सुन्दर सामंजस्यपूर्ण संगठन और संचालन में ही सौंदर्य के आदर्श की चरम परिणति मानी है। फिर भी, पश्चिम के ही श्रेष्ठतम और अमर कलाकारों की कृतियाँ उत्कृष्ट इसलिए हैं कि उनमें इन तत्त्वों की अपेक्षा भावों की कोमल कमनीयता का प्राधान्य है। व यह है कि रूप भाव का आधार है और कारण भी। रूप के बिना भ का उद्बोधन कठिन है और भाव के बिना रूप का अस्तित्व निरर्थक ; क्यों चरम आस्वादनीय पदार्थ रस-अवस्था को प्राप्त भाव है, रूप नहीं। अत एक सुन्दर गुलाब के फूल से एक सुन्दर नारी की मुखाकृति अधिक र रमणीय है, क्योंकि प्रथम में भाव नहीं है और द्वितीय में लज्जा, व्रीड़ा, औत्सु उत्सुकता, आश्चर्य, आह्लाद, रति आदि अनेक भावों का अस्तित्व संभव इस प्रकार कविता में जड़ रूप सौंदर्य की अपेक्षा चेतन भाव-सौंदर्य

महत्त्व रखता है। 'कामायनी' में सौंदर्य की परिभाषा देते हुए प्रसाद जी की दृष्टि सौंदर्य के इसी स्तर पर थी।[1]

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि रूप-सौंदर्य से भाव-सौंदर्य का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। सच तो यह है कि भाव-सौंदर्य के लिये किसी-न किसी प्रकार के वास्तविक या कल्पित रूप-सौंदर्य का आधार प्रायः अनिवार्य है, लेकिन लक्ष्य भाव-सौंदर्य ही होना चाहिये। इस सिलसिले में यह भी कह देना आवश्यक है कि सौंदर्य सुन्दर वस्तु और सौंदर्य-बोध करनेवाला व्यक्ति दोनों की अपेक्षा रखता है। सौंदर्य न तो सर्वथा बाह्य उपादान है और न सर्वांश में एक भाव या अनुभूति। सौंदर्य का अस्तित्व किसी वस्तु-विशेष का किसी व्यक्ति-विशेष में एक अनिर्वचनीय, सुखद आस्वादन की अनुभूति जाग्रत कराने की स्थायी क्षमता में निहित है। अतः काव्योत्कर्ष के लिये आवश्यक है कि कवि का विषय ऐसा हो जिसमें इस प्रकार की सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करने की क्षमता हो।

(iv) महिम, विराट्, उदात्त—रूप-सौंदर्य से भाव-सौंदर्य की ओर प्रगति जब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है तो भाव-सौंदर्य पूर्णता को प्राप्त होता है और तब कोई वस्तु सुन्दर नहीं कहलाती, उसे महिम या उदात्त ( Sublime ) कहते हैं। जब सौंदर्य इतना

---

१ उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

इस सौंदर्य को प्रसादजी ने निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा साकार किया है—

अम्बरचुम्बी हिम शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिए
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिए।

अपरिचित हो, इतना असीम या विशद् हो, इतना भावोन्मेषकारी हो कि रसास्वादन करनेवाला मनुष्य उसके परिमाण का अन्दाज लगाने में सर्वथा असमर्थ हो अपनी निगूढ़ रसमग्नता में चमत्कृत होकर खो जाय, तो ऐसा सौंदर्य महिम-सौंदर्य ( Sublime Beauty ) कहलाता है। रवीन्द्र-नाथ ठाकुर की 'उर्वशी' का सौंदर्य अपने भुवनव्यापी प्रभाव, अपनी तीव्रतम भावोन्मेष जाग्रत करने की क्षमता आदि के कारण महिम है।[1] रवीन्द्र की उर्वशी शीर्षक कविता यदि महान् है, तो वह इसलिए कि उसमें महिम सौंदर्य का चित्रण है। प्रसाद की कामायनी की वे पंक्तियाँ जिनमें प्रकृति के अनन्तर विस्तार और विराट् सौंदर्य का चित्रण हुआ है, अपने सौम्य प्रभाव के कारण महत्त्वशील हैं।[2] प्रकृति के इस विराट् रूप के समक्ष

---

१ सुरसभातले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विल्लोल हिल्लोल उर्वशी
छन्दे छन्दे नाचि उठे, सिन्धु माझे तरंगेर दल
शस्य शीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल
तव स्तनहार हते नभस्तले खसि पड़े तारा

चिन्तामणि = कविता क्या है—रामचन्द्र शुक्ल

२ नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।
सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी
वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज

जाय जिनका कुछ गहरा अर्थ हो, कुछ भीतरी महत्त्व हो और जो मानव की भौतिक प्रेरणाओं और उदात्त प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखनेवाली हों। मेरा अर्थ यह नहीं कि कवि का दृष्टिकोण यथार्थवादी न होकर बिलकुल आदर्शवादी हो अथवा कविता में ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों की अनिवार्य रूप से भरमार हो। वस्तुतः यथार्थवाद का धरातल कविता छोड़ नहीं सकती चूँकि आदर्शवाद की प्रेरणा-भूमि भी यथार्थ जगत् ही है। विषय की दृष्टि से कवि को इतना ही करना उचित है कि वह यथार्थ में से उन अवयवों को चुनकर अपने काव्य-विषय में सन्निविष्ट कर ले, जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वशील और मानव के दृष्टि-क्षितिज का अधिक प्रसार करनेवाले हों। अर्थात् काव्य-विषय का ऊँचे महत्त्वों से अवश्य सम्बन्ध रखना चाहिए और इस सम्बन्ध की व्यंजना किसी मानवोचित आदर्श या सात्विक प्रेरणा के रूप में होनी चाहिए।

(v) दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक उन्मेष — काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह भी विचारणीय है कि कविता में दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक उन्मेष का क्या महत्त्व है। जो कविता विषय के विचार से हमारा ध्यान जीवन की अत्यन्त गंभीर समस्याओं और व्यापक मूलभूत प्रश्नों की ओर आकर्षित करती है, अर्थात् जिस कविता के विषय में दार्शनिक गहराई होती है, उस कविता के उत्कर्ष का धरातल अवश्य कुछ ऊँचा हो जाता है। दार्शनिक सिद्धान्तों को रागात्मक ढंग से व्यंजित करना ही यथेष्ट नहीं है वरन् साम्प्रदायिक सिद्धान्तवादिता से ऊपर उठकर कवि को जीवन और जगत् के मूलभूत सत्यों का साक्षात् ( दर्शन ) करना और कराना चाहिए। कवि आत्मा का गायक है। विभिन्न परिवर्तनों के बीच छिपे अपरिवर्तनशील शाश्वत आत्म-तत्व का उद्घाटन करने का प्रयास कवि की रचना को उत्कृष्ट बना देता है। इस विश्व के नाना नाम-रूपों में अन्तर्निहित जो व्यापक अखण्ड तत्व है, उसकी अनुभूति और व्यंजना से कविता का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। आशय यह कि कविता में कोरा दार्शनिक सिद्धान्त मात्र न होकर भीतरी आध्यात्मिक उन्मेष होना चाहिए। इसी आध्यात्मिक

उन्मेष के कारण, अनेकता के बीच एकता तथा परिवर्तनों के बीच एक शाश्वत भाव के मर्मोद्घाटन के कारण रहस्यवाद की कविता को काव्योत्कर्ष के उच्चासन पर अधिष्ठित होने का गौरव सम्भव है। महात्मा कबीर और अन्य संत कवियों की वाणी इसी दृष्टि से अमर महत्त्व रखती है। इन संत कवियों ने एक ओर अपनी कविता में अपने प्राणों की अन्तरतम प्यास, अपने व्यक्तित्व की सबसे अधिक जोरदार माँग की अभिव्यंजना की, वहाँ दूसरी ओर इनकी कविता में उस व्यापक चेतन और आनन्दमय आध्यात्मिक सत्ता के साक्षात की अनुभूति निहित है, जो विश्व की विभिन्नता को एक निगूढ़ आत्मीयता के सूत्र में बाँध रहा है। बात यह है कि मानव व्यक्तित्व की सबसे अधिक मौलिक, सबसे अधिक प्रभावशाली और सबसे चरम माँग आध्यात्मिक ही है। भूख-प्यास, यौन-सम्बन्ध की आकांक्षा, यश-लिप्सा, सेवा, वीरता और प्रेम आदि सभी लौकिक भावों से आगे, सभी की तह में जो एक विराट् चेतना की पुकार निहित है और जो व्यक्तित्व को इस रूप में आन्दोलित कर देने में समर्थ है कि उसके सामने सभी लौकिक भाव अत्यन्त तुच्छ प्रतीत हों, वह कवि के प्राणों का आध्यात्मिक उन्मेष ही है। अन्य भावों की तरह यह अस्थायी नहीं होता वरन् व्यक्तित्व का अंश और जीवन की शर्त बन जाता है और इसकी प्रेरणा मीरा, कबीर और रामतीर्थ को किसी अरूप सौंदर्यशाली सत्ता के प्रति सजग कर पागल बना देती है। इस आध्यात्मिक उन्मेष के कारण कविता का उत्कर्ष इसलिये बढ़ जाता है कि वह एक साथ प्राणों के तीव्रतम उन्माद को उन्मुक्त कर देने का और चेतना के धरातल को अनिर्वचनीय रूप से पुनीत और उत्कृष्ट बना देने का प्रयास करती है।

**(ख) कविता में रस, भाव और अनुभूति**—पहले कहा जा चुका है कि काव्य की आत्मा रस है। अतः काव्योत्कर्ष के लिये रस का सम्यक् परिपाक और प्रभावशाली व्यंजना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। रस और भाव में यह अन्तर है कि जो भाव आलम्बन, उद्दीपन और संचारी भावों से पुष्ट होकर अलौकिक और अनिर्वचनीय आस्वादन का विषय बन जाता है उसकी 'रस' संज्ञा होती है और जो भाव इस सौभाग्य से वंचित रहता है,

उसे भाव ही कहते हैं। स्पष्ट है कि कविता में भावमात्र से अधिक रस का आदर है अर्थात् कविता में भाव को रस-दशा तक अवश्य पहुँचना चाहिये। कुछ विशिष्ट प्रकार के भावों में 'रस-परिपाक की क्षमता होती है, कुछ दूसरे प्रकार के भावों में यह क्षमता नहीं है। इसलिये प्राचीन शास्त्रकारों ने रस और भाव की अलग-अलग स्थितियाँ मानी हैं और रस को काव्योत्कर्ष के लिये अधिक श्रेयस्कर माना है। इसका कारण यह है कि रदस-शा को प्राप्त 'स्थायी भाव' में अधिक रागात्मक तीव्रता (Intensity of emotion) और अधिक मार्मिकता होती है। वह मानव-मर्म को छूने में अधिक समर्थ होता है और कविता के उत्कर्ष के लिये यह आवश्यक ही है कि रस कविता की पंक्तियों द्वारा कवि के हृदय से पाठकों के हृदय तक संक्रमण कर सके। रस की तीव्रतम व्यंजना के साथ-साथ यदि अनुभूति की गहराई (Depth of realization) भी कविता में हो तो वह कविता अधिक उत्कृष्ट होगी। रस और अनुभूति में अन्तर यह है, जैसा पहले कहा जा चुका है कि रस परिस्थिति-सापेक्ष है और कारणभूत परिस्थितियाँ बदलते ही रस-दशा में भी परिवर्तन हो जाता है; लेकिन अनुभूति इससे अधिक गहरी चीज है, इससे अधिक स्थायी और व्यक्तित्व का अंश ही है। अतः अनुभूति-प्रधान कविता केवल रस-प्रधान कविता से, यदि अन्य बातों में समानता हो, निस्सन्देह अधिक उत्कृष्ट होगी।

हमें रस की सम्यक् व्यञ्जना की पद्धति पर भी यहाँ थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। पाठकों को कवि द्वारा अनुभूत रस की प्रतीति पर्याप्त मात्रा में हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि रस का साधारणीकरण सहज संभव हो। साधारणीकरण द्वारा सहज-प्राप्य रस का ही आस्वादन पाठक कर सकते हैं। अतः भाव या रस का स्वरूप अथवा अभिव्यञ्जना-पद्धति इतनी व्यक्तिगत न हो कि उसके साधारणीकरण में कठिनाई हो। अर्थात् व्यक्ति की व्यञ्जना-पद्धति में रस-प्रभाव की प्रेषणीयता होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त आलंबन और उद्दीपन विभावों के कौशल पर भी हमें ध्यान देना चाहिए। कविता के शब्दों द्वारा आलंबन को कल्पनावृत्ति के सहारे मूर्त्त करना रस की प्रेषणीयता के लिए आवश्यक है; क्योंकि आलंबन की इसी कल्पित मूर्त्ति के

आधार पर पाठक के हृदय में रस-संचार हो सकता है। इसके लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने एक विशेष विधान की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, वह यह है कि आलंबन के रूप में जहाँ तक हो सके, हमें सामान्य के बदले विशेष का कथन करना चाहिए। जैसे इस वाक्य से कि 'गरीबों पर अत्याचार हो रहा है' यह वाक्य कि 'गरीबों का गला घोंटा जा रहा है' अधिक प्रभावपूर्ण और काव्योचित है; क्योंकि अत्याचार एक सामान्य शब्द है जिससे आलंबन ठीक-ठीक मूर्त्त नहीं होता, लेकिन 'गला घोंटना' एक विशेष दृश्य को हमारे सामने प्रस्तुत करता है, जो हमारी करुणा, क्रोध और उत्साह आदि भावों का आलंबन बन जाता है।[1] उद्दीपन के सिलसिले में काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह अपेक्षित है कि उद्दीपन के रूप में जो प्रकृति-चित्रण या मानव-व्यापार आवें, उनका चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और संश्लिष्ट रूप से हो और उसी सीमा तक रस की प्रभावशाली व्यन्जना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृति-चित्रण नैसर्गिक होने के साथ-साथ अत्यन्त विषयानुकूल भी हो।

( ग ) कविता की शैली ( अलंकार, छन्द और भाषा )—काव्यांगों के विवेचन के सिलसिले में यह बतलाया जा चुका है कि कविता में रस, अलंकार, छन्द और भाषा का पारस्परिक संबंध क्या है। कहा जा चुका है कि कविता की आत्मा रस है, शरीर छन्द, वाणी भाषा तथा आभूषण अलंकार है। तात्पर्य्य यह कि जहाँ कविता के लिए रस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है और छन्द तथा भाषा उसके अनिवार्य तत्त्व हैं, वहाँ अलंकारों का महत्त्व गौण है। लेकिन फिर भी अलंकारों का महत्त्व काव्योत्कर्ष की दृष्टि से कम नहीं ; क्योंकि अलंकार वाणी को शोभायुक्त बनाने के अतिरिक्त रस की सम्यक् व्यन्जना में सहायक भी है। अलंकार वाणी का वह कौशल भी है जिससे भाषा अधिक सजीव, अधिक प्रभावपूर्ण और अधिक भावाभिव्यन्जक बन जाती है। शर्त यही है कि काव्यगत उत्कर्ष के लिए अलंकारों के प्रयोग में अत्यन्त कौशल और संयम से काम लिया जाय। कौशल का अर्थ यह है कि अलंकारों के विस्तृत

१ 'चिंतामणि'—रामचन्द्र शुक्ल

भांडार से समुचित रूप में चुनाव ही नहीं किया जाय, वल्कि विषय के अनुकूल तत्त्वों से उपमान आदि की योजना भी की जाय। साथ ही अलंकार का विस्तार और विधान इस रूप में हो कि रस-भावों और विचारों की सफल और उचित व्यञ्जना में वे सर्वाधिक सहायता दे सकें। संयम का तात्पर्य यह है कि किसी भी कविता में अलंकार वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति स्वतंत्र रूप से नहीं होनी चाहिए। आलंकारिक चमत्कार-प्रदर्शन के मोह में पड़कर यदि कलाकार अत्यधिक अलंकारों की भरमार कविता में करता है या आलंकारिक उक्तियों की झड़ी लगा देता है, तो इससे अलंकार ही प्रधान हो जाते हैं और अलंकार्य—विषय, रस या भावानुभूति—गौण हो जाते हैं। फल यह होता है कि रस की समुचित अभिव्यक्ति और सम्यक् आस्वादन में बाधा पड़ती है और कविता उत्कर्ष के धरातल से नीचे गिर जाती है। सारांश यह कि अलंकारों की योजना इस रूप में हो कि वे प्रस्तुत भाव-धारा के पोषक और सहायक के रूप में प्रयुक्त हों, उन्हें ढँककर उनके बाधक न बन जायँ।

छन्द का प्रयोग कविता में इस दृष्टि से होना चाहिए कि उनसे भावोचित संगीत का सृजन हो और शब्द तथा अर्थ को रस की प्रेषणीयता में संगीत की सहायता मिले। जिस प्रकार छन्द मात्र कविता नहीं है, उसी प्रकार उचित छन्द के अभाव में रस तथा अनुभूति भी अपना प्रभाव बहुत कुछ खो देती है। छन्दों द्वारा नाद-सौंदर्य की सृष्टि करके काव्योत्कर्ष को बढ़ाया जा सकता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि छन्द का प्रकार, उसकी लय और संगीत भाव के अनुरूप हों। लेकिन यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि सर्वश्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में संगीत की योजना सचेत रूप से नहीं होती वरन् छन्द अपने आप नैसर्गिक रूप से कवि के अन्तर से निसृत होते हैं, मानो कवि का भाव ही संगीत बनकर छन्द के रूप में प्रकट होता है। कोई आवश्यक नहीं कि यह छन्द पूर्व निर्मित किसी छन्दशास्त्र में वर्णित रहे ही। पिंगल की वर्तमान सीमाओं के बाहर अनेक ऐसे रमणीय छन्द संभव हैं, जो विशिष्ट भावों की दृष्टि से काव्योत्कर्ष के साधक होंगे।

भाषा-सौष्ठव भी काव्योत्कर्ष के लिए एक आवश्यक उपादान है। कविता

कठिन ही नहीं, असंभव भी हो जा सकता है और कविता का उद्देश्य ही न
हो जा सकता है।

( iii ) ओज, प्रसाद और माधुर्य्य गुणों का उचित स्थान पर और उचित मात्रा में समावेश।

( iv ) शब्द की आत्मा की पहचान—उसके काव्यत्व का अपेक्षित रूप में उद्घाटन। बहुत-से शब्दों में कविता होती है। एक ही अर्थ को व्यक्त करनेवाले विभिन्न पर्यायवाची शब्दों को भिन्न-भिन्न भावों को जगाने की क्षमता होती है। जैसे समीर, पवन, वायु, हवा, मलयज, वात, झंझा, प्रभंजन आदि शब्दों का अर्थ एक ही होने पर भी इनमें भिन्न-भिन्न भावों की व्यञ्जना करने की शक्ति है।[1] कवि को चाहिए कि वह अपने विषय और उद्देश्य के अनुकूल शब्दों का चयन अत्यन्त सावधानी से करे। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि भावोन्मेष के अनुकूल शब्दों की योजना कवि की नैसर्गिक प्रतिभा का सहज वरदान होना चाहिए। इस सिलसिले में एक बात और कह देना आवश्यक है कि भावों की शक्तिशाली व्यञ्जना की वेदी पर भाषा के व्याकरण का बहुत अधिक बलिदान काव्योत्कर्ष का साधक नहीं। भाषा की शुद्धि और स्वरूपता एक आवश्यक शर्त है और कवि को यह अधिकार नहीं कि वह मनमाने ढंग से शब्दों के लिंग-परिवर्तन या स्वरूप विकृत कर डाले। काव्योत्कर्ष तो इसी में निहित है कि भाषा के प्रकृत स्वरूप की रक्षा करते हुए भी विषय की व्यञ्जना और प्रभाव-प्रेषणीयता में कमी नहीं आने पाये। लेकिन इस ओर भी अति की सीमा वर्जनीय है और भाषा को व्याकरण-सम्मत रखने के लिए यदि भावानुभूति की हत्या होती हो तो यह कभी भी अपेक्षित नहीं।

भाव और भाषा का वह चरम सामंजस्य जिसमें रस-प्रेषणीयता के साथ-साथ भाषा के प्रकृत स्वरूप को भी विकृत न करना पड़े, काव्योत्कर्ष के लिए अत्यन्त श्लाघनीय और अभिनन्दनीय स्थिति है।

---

१ 'पल्लव' की भूमिका से—सुमित्रानन्दन पंत।

का निर्माण होता है। प्रबन्ध-काव्यकार के लिए यह आवश्यक है कि दृश्य-विधान के संबंध में वह अत्यन्त सावधानी तथा कौशल से काम ले। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जो चीज प्रस्तुत किये जायँ, वे यथासंभव संश्लिष्ट और भावमय हों। साथ ही उनका परिस्थिति के अनुकूल होना भी आवश्यक है। यह भी याद रखना चाहिए कि दृश्य-विधान निष्प्रयोजन नहीं हो, उसका उद्देश्य उपयुक्त वातावरण के निर्माण के रूप में हो। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि दृश्य-विधान अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव हों और जहाँ प्रकृति-चित्रण हो, वहाँ प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ वास्तविकता का भी ध्यान रक्खा जाय। प्रबन्धकाव्य में सम्पूर्ण रचना के उत्कर्ष की दृष्टि से प्रकृति-चित्रण स्वतंत्र या आलंबन के रूप में नहीं होना चाहिए, वरन् पृष्ठभूमि या उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति का उपयोग वांछनीय है।[1]

---

१ प्रकृति-चित्रण—काव्य में प्रकृति-चित्रण के ये भेद संभव हैं:—

(क) प्रकृति का विशुद्ध यथातथ्य चित्रण

(ख) मानव-भावनाओं से अनुरंजित प्रकृति-चित्रण। यह दो प्रकार का हो सकता है—(क) जब प्रकृति के भाव मानव-भावों के अनुकूल हों, (ख) जब प्रकृति के भाव मानव-भावनाओं के प्रतिकूल हों।

(ग) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण

(घ) आलंबन के रूप में प्रकृति-चित्रण

(ङ) उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण

(च) अलंकारों के लिए प्राकृतिक अवयवों का प्रयोग

(छ) प्रकृति का मानवीकरण

(ज) प्रकृति का उपदेशात्मक चित्रण

(झ) मानव की प्रस्तुत भावनाओं की व्यञ्जना के लिए अप्रस्तुत प्रतीकों के रूप में प्रकृति-चित्रण

(ञ) प्रकृति और मानव-हृदय में तादात्म्य की स्थापना

(छायावाद की प्रकृति)

वस्तुविधान—इसके अन्तर्गत प्रबंधकाव्य में सारी कविता के अन्तर्भूत एक कथा-श्रृंखला होती है। कलाकार को देखना चाहिए कि कथावस्तु के विभिन्न अवयव सुचारु रूप से संगठित हैं या नहीं, अर्थात् घटनाओं की प्रगति कार्य-कारण-संबंध पर आधारित तथा अन्तिम गंतव्य—फलागम—की दिशा में नियोजित है या नहीं। काव्योत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि प्रबन्ध-काव्य का वस्तु-विधान जहाँ एक ओर घटनाओं के सम्यक् पूर्वापर संबंध के कारण अच्छी तरह संगठित हो, वहाँ दूसरी ओर पृष्ठभूमि, चरित्र-चित्रण और भावव्यञ्जना के साथ उचित सम्बन्ध के कारण सामंजस्यपूर्ण। अतः घटनाओं में संयम ( अर्थात् अनावश्यक घटनाओं की अवहेलना और कथा-प्रगति की दृष्टि से आवश्यक घटनाओं का ही चुनाव ) घटनाओं में कार्यकारण सम्बन्ध, घटनाओं की अन्तिम फलसिद्धि की दृष्टि से सोद्देश्यता आदि काव्योत्कर्ष के साधक हैं।

चरित्र-चित्रण—साहित्य का विषय है—मानव-जीवन। अतएव जिस साहित्य में मानव-चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होगा, मानव की मार्मिक मनोवृत्तियों का अध्ययन और उद्घाटन होगा, वह अवश्य उत्कृष्ट होगा। प्रबन्ध काव्य में इसके लिए पर्याप्त अवकाश है कि कलाकार मानव की अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण और अध्ययन करे और मानव-चरित्र के वैचित्र्य पर प्रकाश डाले। प्रबन्धकाव्य में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के बीच मानव-चरित्र का अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है और इस अध्ययन के विस्तार और गहराई के अनुपात में काव्य उत्कृष्ट होगा। जितने प्रकार के चरित्र चित्रित होंगे और मानव की जितनी गहरी प्रवृत्तियों का रहस्योद्घाटन होगा, काव्य का महत्त्व उतना ही अधिक बढ़ेगा।

भावव्यञ्जना—पृष्ठभूमि, वस्तु-वर्णन और चरित्र-चित्रण का यद्यपि प्रबन्धकाव्य में महत्त्व कम नहीं, फिर भी ये सभी मिलकर भावव्यञ्जना के साधन ही हैं। चरम साध्य भावानुभूति की व्यञ्जना ही है। पहले कहा जा

चुका है कि कविता की आत्मा, उसका चरम आस्वादनीय पदार्थ रस है। अतएव प्रबन्धकाव्य में यह आवश्यक है कि पृष्ठभूमि, कथा-विधान और चरित्र-चित्रण के बीच अवकाश निकालकर मानव-भावों की तीव्रतम व्यञ्जना का प्रयत्न किया जाय और रस का सम्यक् परिपाक घटित किया जाय। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्योत्कर्ष के लिए यह आवश्यक माना है कि प्रबन्धकार कवि "कथा-प्रसंग के बीच मर्मस्थलों की पहचान" में अत्यन्त कुशल हो।[1] क्योंकि ऐसी मार्मिक परिस्थितियों तक पहुँचने के लिए घटनाओं का वर्णन प्रबन्धकाव्य में होता है। घटनाओं के अतिरिक्त चरित्रगत विशेषताओं तथा पृष्ठभूमि का उन्हीं अंशों में और उन्हीं रूपों में योजना अपेक्षित है जिनमें वे ऐसी मार्मिक परिस्थितियों के निर्माण या उपलब्धि में समर्थ हों। इन मार्मिक स्थलों तक पहुँचकर कथा-प्रवाह कुछ देर के लिए स्थगित हो जाता है और कलाकार काव्य के चरम आराध्य की उपलब्धि—रस-संचार की पुनीत साधना में लीन हो जाता है। कविता में भावव्यञ्जना के ऐसे मार्मिक स्थल जितने अधिक आयेंगे और उनमें जितनी तीव्र भावानुभूति की व्यञ्जना होगी, कविता का महत्त्व उतना ही बढ़ेगा।

**महाकाव्य (Epics)**—महाकाव्य में, साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने जो तत्त्व बतलाये हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

( १ ) महाकाव्य सर्गबद्ध हो। ( २ ) उसका नायक कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ( कोई देवता या धीरोदात्त क्षत्रिय ) हो। ( ३ ) उसमें शृंगार, वीर और शान्त में से किसी एक रस की प्रधानता हो और अन्य रस गौण रूप से आयें। ( ४ ) उसमें नाटक की सभी संधियाँ हों। ( ५ ) उसकी कथावस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक या अन्य रूप में विख्यात हो। ( ६ ) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक को अन्तिम फल के रूप में स्वीकार किया गया हो। ( ७ ) नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वर्ण्यवस्तु के संकेत से महाकाव्य

---

१ 'गोस्वामी तुलसीदास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

का आरम्भ हो। ( ८ ) समस्त सर्ग की रचना एक ही प्रकार के छन्दों में हो, पर अन्त में छन्द-परिवर्त्तन हो। ( ९ ) सर्गों की संख्या आठ से अधिक हो। (१०) अनेक प्राकृतिक दृश्यों तथा मानसिक परिस्थितियों का वर्णन उसमें हुआ हो। (११) उसका शीर्षक, कवि का नाम, कविता का विषय, उसका नायक अथवा अन्य किसी आवश्यक तत्त्व पर आधारित हो (१२) घटनाओं के अनुसार सर्गों के भी शीर्षक दिये जायँ। [1]

---

१ सर्ग बन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥
शृंगार-वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेपि रसाः सर्वे नाटक संधयः ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जना श्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकञ्च फलं भवेत् ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सताञ्च गुणकीर्त्तनम् ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥
नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥
संध्या–सूर्येन्दु–रजनी–प्रदोष–ध्वान्त–वासराः।
प्रातर्मध्याह्न—मृगया—शैलर्तु वन—सागराः ॥
संभोग विप्रलंभौ च मुनि—स्वर्ग-पुराध्वराः।
रण प्रयाणोपयमम—मंत्र—पुत्रो—दयादयः ॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्न नायस्येतरस्य वा ॥
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु ॥ प० ६ । ३१५

साहित्य-दर्पणकार द्वारा कथित महाकाव्य की ये विशेषताएँ उसके आकार-प्रकार के लिए भले ही अपेक्षित हों, लेकिन काव्योत्कर्ष के विचार से बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। इस दृष्टि से महाकाव्य के निम्नलिखित तत्त्व अवश्य ध्यातव्य हैं:—

( १ ) महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होना चाहिए। महाकवि की दृष्टि मानव-जीवन के समस्त विस्तार को अपनी परिधि में अन्तर्भुक्त कर लेती है और मानव-जीवन की अनेक घटनाओं, परिस्थितियों एवं अनुभूतियों को महाकाव्य में प्रतिष्ठित करती है। महाकाव्य में इसी हेतु जीवन के अधिक विशद् चित्रण के लिए अवकाश है और इस विशद् विस्तार के अनुपात में महाकाव्य का महत्त्व कुछ अवश्य बढ़ जाता है।

( २ ) लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि महाकाव्य में महानुष्ठान की योजना होनी चाहिए। घटनाओं का अंतिम गंतव्य अथवा पात्रों के सभी प्रयत्नों का चरम उद्देश्य महान् होना चाहिए। महानता से यहाँ यह तात्पर्य है कि वह न केवल कुछ व्यक्तियों से सम्बन्ध रक्खे, पर समस्त जनसमुदाय से, सारे राष्ट्र से अथवा उसकी संस्कृति आदि से उसका गहरा सम्बन्ध हो। साथ ही उसका प्रभाव भुवनव्यापी और युगों तक अनुभव किया जानेवाला हो। जैसे—महाभारत अथवा रामायण की कथा-योजना को हम महदनुष्ठान कह सकते हैं।

( ३ ) महदनुष्ठान की योजना के साथ-साथ महाचरित्र का निर्माण भी महाकवि की एक जिम्मेदारी है। महाकाव्य का नायक एक महान् व्यक्ति होना चाहिए। साथ ही अन्य पात्रों में भी महानता का तत्त्व कम या अधिक मात्रा में वर्त्तमान हो। यह आवश्यक नहीं कि महाकाव्य का नायक राजा ही हो अथवा देवता ही हो अथवा क्षत्रिय हो, वरन् आवश्यक यह है कि मानव होने के नाते उसमें मानव की असीम शक्तियों का और अनन्त संभावनाओं का चरम विकास परिलक्षित हो। रामचरितमानस की महानता राम के महान् चरित्र, उनके चरित्र में शक्ति, शील और सौंदर्य के चरम विकास के उद्‌घाटन के कारण भी हैं।

खण्डकाव्य—इसमें महाकाव्य की जो बातें कथा-विस्तार, सर्गबद्धता, नायक इत्यादि से सम्बन्ध रखती हैं, उनका प्रतिबन्ध नहीं है। खण्डकाव्य में महाकाव्य की तरह सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं होता और न उसमें महदनुष्ठान और महद् चरित्र की ही अनिवार्यता है। खण्डकाव्य में जीवन का एक खण्डमात्र चित्रित होता है और उसकी कथावस्तु तथा प्रधान पात्र मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र से लिये जा सकते हैं। फलतः खण्ड-काव्य न केवल महाकाव्य से आकार-प्रकार में ही छोटा होता है, बल्कि उसकी 'टेकनीक' भी महाकाव्य से भिन्न है। अतः खण्ड-काव्य के उत्कर्ष के लिए दूसरी ही कसौटी अपेक्षित है। उत्कर्ष के विचार से हमें इस सिलसिले में पृष्ठभूमि, वस्तुवर्णन, चरित्र-चित्रण और भाव-व्यञ्जना के सम्यक् विधान को ही दृष्टि में रखना होगा।

यह आवश्यक नहीं है कि महाकाव्य का लेखक खण्ड-काव्य के लेखक से अधिक श्रेष्ठ माना जाय अथवा कोई महाकाव्य किसी खंड-काव्य से अधिक उत्कृष्ट माना जाय। दोनों के उत्कर्ष के साधन-तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। फिर भी महाकाव्य के लेखक को जीवन की गहराई, विस्तार तथा महान् से महान् धरातलों के स्पर्श करने का अधिक अवसर है।

( ख ) मुक्तक—मुक्तक और प्रबंधकाव्यों में यह अन्तर है कि मुक्तक कविता के अन्तर्भूत कोई कथा-श्रृंखला नहीं होती और उसमें भावधारा का क्रमिक विकास नहीं होता। प्रबंधकाव्य में पृष्ठभूमि, वस्तुवर्णन, चरित्र-चित्रण और भाव-व्यञ्जना, ये चार तत्त्व बतलाये जा चुके हैं, लेकिन मुक्तक कविता में इनमें से प्रथम तीन के लिए अवकाश नहीं। उसमें केवल भाव व्यञ्जना का ही स्थान है। इसलिए मुक्तक कविता के अन्तर्गत पद्य एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

वीरगीत (Ballads)—इसमें कुछ दूर तक छन्दों का सिलसिला चलता तो है, लेकिन उसमें वीर-रस की सुन्दर व्यञ्जना और उत्साह आदि भावों की अभिव्यक्ति मात्र उद्देश्य के रूप में रहती है। घटना-वर्णन या चरित्र-चित्रण वीरगीत का उद्देश्य नहीं। इसलिए वीरगीत प्रबन्ध-काव्य के

अन्तर्गत न होकर मुक्तक के अन्तर्गत है। वीरगीत में वीरोच्छ्‌वास की सहज अभिव्यक्ति का कौशल और उसके प्रभाव की तीव्रता ही काव्योत्कर्ष के कारण-तत्त्व हैं और इसी कसौटी पर हमें वीरगीत में काव्योत्कर्ष की परख करनी चाहिए। वीरगीत आत्मनिष्ठ न होकर समाजनिष्ठ ( Objective ) होता है।

गीतिकाव्य (Lyrics)—इसमें भी वीरगीत की ही तरह प्रबन्ध-शृंखला के लिए गुंजाइश नहीं; क्योंकि गीतिकाव्य अन्य मुक्तकों से भी अधिक भाव-प्रधान है। गीतिकाव्य में प्रायः कवि की व्यक्तिगत भावना (Subjective feelings) की अभिव्यक्ति रहती है। इसके अतिरिक्त उसमें भावना का चरम उत्कर्ष, उसकी अतिशय तीव्रता रहती है। कवि जब भावना की ज्वलित विन्दु (Focus) पर पहुँच जाता है, तब उसकी अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति गीतिकाव्य के रूप में होती है। इसीलिए गीतिकाव्य में संगीतात्मकता भी एक आवश्यक तत्त्व है और भावना के इस ज्वलित विन्दु पर अधिक समय के लिए स्थित रहना कवि के लिए संभव नहीं होने के कारण गीतिकाव्य अत्यन्त संक्षिप्त हुआ करते हैं। गीतिकाव्य के उत्कर्ष के निर्णय में हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिए। यदि उसकी भावना कवि की अन्तरतम की अनुभूति है, यदि उसमें भावना अपने चरम वेग के साथ अभिव्यक्त हुई है, यदि उसमें संगीत की तन्मयता और प्रवाह है, तो गीतिकाव्य अवश्य उत्कृष्ट कहा जायगा। गीतिकाव्य के उत्कर्ष को मापने के लिए हमें महान् चरित्रों और महान् आदर्शों की व्यञ्जना आदि को कसौटी के रूप में नहीं अपनाना चाहिए; क्योंकि ये गीतिकाव्य की सीमा के बाहर हैं।

स्फुट पद—नीति, उपदेश आदि के दोहे, वैचित्र्य से समन्वित पद या ऐसे पद जिनमें बिजली के समान चमक उठनेवाला कोई एक मार्मिक भाव वर्णित हो, इसके अन्तर्गत हैं। बिहारी या रहीम के दोहे या रसखान के सवैये, इसी कोटि में हैं और इसमें काव्योत्कर्ष के लिए हमें केवल यही देखना चाहिए कि कवि किस उद्देश्य को दृष्टि-पथ में रखकर चला है और उस उद्देश्य में वह कहाँ तक सफल हुआ है।

रचना-पद्धति की दृष्टि से काव्य के इन प्रमुख भेदों में कौन श्रेष्ठ है और कौन निकृष्ट यह अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सकता। सबके उत्कर्ष की अलग-अलग कसौटियाँ हैं और सभी के उत्कर्ष के परिमाण की नाप-तौल उनकी विशिष्ट कसौटियों पर कसकर ही करना उचित है। किसी एक ही कसौटी पर काव्य के इन सभी भेदों के कसने का परिणाम भ्रामक होगा। पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने सूर, तुलसी और जायसी की समीक्षाओं में ऐसा ही किया है। उन्होंने काव्योत्कर्ष के लिए ऐकान्तिक कारण-तत्त्व पहले से मान लिये और उन्हीं की कसौटी पर उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, वीरगीत, गीतिकाव्य और स्फुट पद आदि सभी का परीक्षण किया। उनकी कसौटी के इन कारण-तत्त्वों का निर्माण गोस्वामी तुलसीदास की रचना-पद्धति और उनके आदर्शों के अनुकूल हुआ था। अतः गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित-मानस उनकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ प्रतीत हुआ और सूर तथा कबीर उनसे बहुत घटकर सिद्ध हुए। सूर तथा कबीर में न तो जीवन की अनेक भाव-दशाओं के चित्रण का अवकाश था और न कथा-प्रसंग के अन्तर्गत मार्मिक परिस्थितियों की पहचान के परिचय का अवसर। फलतः ये कवि गोस्वामी तुलसीदास की कोटि के नहीं सिद्ध हुए। दूसरी ओर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शाश्वत और असीम आत्मा के साक्षात् और उसकी अनुभूति की व्यञ्जना को काव्योत्कर्ष की शर्त मानी और रचना-पद्धति आदि को अत्यन्त गौण स्थान दिया। फलतः कबीर तथा अन्य सन्त कवि उन्हें तुलसी-जैसे महाकाव्यकार और सूर-जैसे रस-सिद्ध गीतिकार से भी महान् प्रतीत हुए। साथ ही जनता के हृदय ने जहाँ तुलसी के रामचरितमानस को अपनाया है, वहाँ सूर के ललित पदों की माधुरी में भी वह उतना ही स्नात है। लेकिन, कबीर जनता के हृदय से कुछ दूर-से हैं। निष्कर्ष यह कि यह कहना भूल है कि महाकाव्य गीतिकाव्य से श्रेष्ठ है अथवा गीतिकाव्य महाकाव्य से श्रेष्ठ। किसी भी रचना-पद्धति के अन्तर्गत कविता तभी श्रेष्ठ हो सकती है, जब स्वयं उसकी रचना की पाबन्दियों का उचित निर्वाह उसमें हुआ है और काव्योत्कर्ष की परख भी हमें इसी दृष्टि से करनी होगी।

**महाकवि कौन है ?**—वैधानिक रूप से महाकाव्य का लेखक भले ही महाकवि कहा जाय, पर न्यायतः महाकवि कहलाने का अधिकारी वह महान् कवि भी है जिसने युग की संस्कृति को अत्यन्त सरस स्वरों में वाणी दी हो और जिसने मानव की उत्कृष्टतम प्रवृत्तियों और गंभीरतम अनुभूतियों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया हो, चाहे उसने एक भी महाकाव्य की रचना न की हो। इस दृष्टि से केवल तुलसी ही महाकवि नहीं, बल्कि सूर भी महान् कवि होने के नाते महाकवि हैं।

## ( iii ) पाठक की दृष्टि से

**सहजग्राह्यता**—कविता सोद्देश्य है या निरुद्देश्य—इस विषय पर भारतीय और पाश्चात्य विद्वान में मतैक्य नहीं है। कला-मर्मज्ञों का एक समूह जो कला को कला के लिए मानता है, कविता को भी पाठक-निरपेक्ष और लोक-जीवन से स्वतंत्र समझता है। इनका कहना है कि कवि की प्रेरणा उसके अन्तःकरण की कोई निगूढ़ अनुभूति या सौंदर्य-भावना के रूप में होती है और इस अनुभूति की व्यञ्जना के लिए उसका व्यक्तित्व लाचार होता है। वह लिखता इसलिए है कि लिखे बिना रह नहीं सकता। चेतन रूप से, जान-बूझकर किसी विशिष्ट पाठक-समुदाय या लोक-वर्ग को किसी विशिष्ट प्रकार से प्रभावित करना उसका उद्देश्य नहीं होता। इन विद्वानों का विचार सर्वांग में ठीक नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि कला की स्वाभाविक प्रेरणा के मूल में आत्माभिव्यक्ति और आत्मप्रसार की प्रवृत्तियाँ भी हैं, और आत्माभिव्यक्ति की चरितार्थता इस बात में है कि कवि का हृदय अपनी अनुभूतियों को पाठकों के हृदयों तक पहुँचाने में सफल हो। भावों की इस प्रेषणीयता की अनिवार्यता के कारण काव्य-कला पाठक सापेक्ष है। अतः कला का और फलतः काव्य-कला का कम-से-कम यह उद्देश्य तो अवश्य है कि उसके द्वारा कवि अपने हृदयगत भावों और अनुभूतियों को अन्य रसिक-जनों के हृदयों तक प्रेषित करे।

कविता का उत्कर्ष इसी प्रेषणीयता के अनुपात में घटेगा अथवा

बढ़ेगा। प्रेषणीयता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कवि की भाषा यथासंभव अधिक-से-अधिक सरल और बोधगम्य हो। कठिन शब्दों का व्यवहार-क्लिष्ट वाक्यविन्यास और अनावश्यक रूप से भाषा को अलंकार-बोझिल बना देना शैली के उत्कर्ष का सूचक नहीं, वरन् कवि की अक्षमता का बोधक है। इससे इस बात का परिचय मिलता है कि कवि का शब्द-भांडार संकुचित, उसका वाक्य-विधान-कौशल अत्यन्त निम्न कोटि का और उसकी अभिव्यञ्जना-शक्ति अत्यन्त शिथिल है। शैलीगत उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि अधिक-से-अधिक जनसमुदाय के लिए भाषा बोधगम्य हो। बच्चन की लोकप्रियता का रहस्य यही है। उसकी सरल भावव्यञ्जना-पद्धति और सीधे, सच्चे व्यापक मानव-भाव उसकी कविताओं को सद्यः-रसोद्रेक की क्षमता प्रदान करते हैं और पाठक तक कवि के भाव तत्काल अत्यन्त आसानी से पहुँचकर अंकुरित होने लगते हैं।

भावों की सहजग्राह्यता के लिए यह भी आवश्यक है कि कलाकार कभी-कभी मूर्त्त-विधान का उचित उपयोग करे। रूपक अलंकार का आश्रय सर्वत्र अपेक्षित नहीं, लेकिन कहीं-कहीं अमूर्त्त-भावों के वर्णन में उसके मूर्त्त आकार की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति पाठक के मन में आलंबन की सृष्टि में सहायक होती है।

इस दृष्टि से समझ-बूझकर उचित स्थान पर अलंकारों का उपयोग जिसका उद्देश्य भाषा को अधिक शक्तिशाली और भावों को पाठकों की दृष्टि से अधिक ग्राह्य बनाना हो, काव्य-उत्कर्ष का साधक है। लेकिन यह ध्यान रहना चाहिए कि अलंकार-वैचित्र्य के कारण भाषा इतनी दुरूह न हो जाय कि पाठकों को उसकी उलझन से निकलने में ही मानसिक थकान का अनुभव होने लगे और रसास्वादन के लिए कोई रुचि शेष न रह जाय। कालिदास, भवभूति, सूरदास, मीरा, मैथिलीशरण आदि की श्रेष्ठतम पंक्तियाँ इस दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। छायावाद के गीत लोकप्रिय इसलिए भी नहीं हुए कि उनकी व्यञ्जना-पद्धति अत्यन्त जटिल और दुरूह है और नारिकेल से रस-प्राप्ति के

प्रयास की तरह उन कविताओं को रसास्वादन के लिए अर्थ-संगति की उपलब्धि में कुछ विशेष आभास का अनुभव पाठकों को होता है।

सहृदयग्राह्यता की दृष्टि से यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कविता का भाव सर्व-साधारण की संपत्ति हो और उसका उद्रेक समान रूप से सभी के हृदय में आसानी से हो सके।

**कविता और लोक-जीवन**—कहा जा चुका है कि कविता का एक विशिष्ट उद्देश्य पाठकों को प्रभावित करना है। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि पाठक को किस ढंग से प्रभावित किया जाय। इस सिलसिले में हमें यह याद रखना चाहिए कि यदि कला का उद्देश्य कुछ हो सकता है तो वह केवल पाठकों का क्षणिक मनोरंजन नहीं, वरन् उनके जीवन का उत्कर्ष ही उसका उद्देश्य हो सकता है। लोक-जीवन के उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि जन-साधारण को उसकी वास्तविक स्थिति से परिचय कराया जाय। जन-जीवन की समस्याएँ, कुत्साएँ, दुर्बलताएँ, आशाएँ और आकांक्षाएँ किसी भी उत्कर्षकामी साहित्य की साँस हैं। जन-जीवन साहित्य के प्राणों का वह अन्तःस्पन्दन है जिससे वह वेगवान और उन्नतोन्मुख होता है। यहाँ पर एक समस्या यह है कि साहित्य कोटि-कोटि जनता के दारिद्र्य, उत्पीड़न, परवशताएँ और संघर्ष का चित्रण करे, छोटे मनुष्यों की छोटी समस्याएँ और क्षुद्र जीवन का चित्रण करे या उन महान् विभूतियों का रसगान करे, जो जन-जीवन की दुर्बलताओं से ऊपर उठकर आलोकमान नक्षत्र के समान दिगंत को अपने प्रकाश से भर देते हैं। अर्थात साहित्य व्यक्ति की अर्चना करे या समूह की साधना, साहित्य महान् एक का चित्रण करे या लघु अनेक का, साहित्य बुद्ध, राम, कृष्ण, चन्द्रगुप्त और गाँधी के जीवन की महानता के स्पर्श से अमरत्व लाभ करे या छोटे-छोटे व्यक्तियों के घरेलू झगड़ों, सामाजिक समस्याओं और व्यक्तिगत हानि-लाभ का चित्रण करे। कहा जा चुका है कि साहित्य में महिम की आराधना उत्कर्ष का सूचक है, लेकिन इसका एक दूसरा पहलू भी है। यदि साहित्य जनता के अन्तःस्पन्दन की अभिव्यक्ति नहीं बनता, यदि यह जनता की समस्याओं का विश्लेषण और

उद्घाटन नहीं करता और जनता की तात्कालिक कठिनाइयों और संघर्षों में उसका संबल नहीं बनता तो वह साहित्य चाहे अपने आप में कितना ही महान् क्यों न हो, जनता उसका आदर बहुत अधिक नहीं करेगी। साहित्य को युग-युग की वाणी होने के साथ-साथ अपने युग की भी सुधि लेनी चाहिए। प्रगतिवाद के साहित्यकार का प्रयास इसी दृष्टि से अभिनन्दनीय है। समाज का तात्कालिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याओं के यथार्थ विश्लेषण द्वारा जहाँ वह समाज की आँखें खोलता है, वहाँ उसे अपनी दुर्बलताओं के प्रति सचेत बनाकर उनसे संघर्ष की प्रेरणा भी देता है। प्रगतिवाद का साहित्य अमर साहित्य नहीं कहा जा सकेगा। इसका महत्त्व प्रत्येक युग में समान नहीं रहेगा, क्योंकि बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों में उन समस्याओं का महत्त्व भी बदल जायगा। लेकिन फिर भी अपने विशिष्ट युग में प्रगतिवाद की एक श्रेष्ठ कविता किसी भी अमर रचना से कम उपयोगी नहीं। अमर विषयों पर लिखी गयी रचना का उत्कर्ष सामयिक रचना से केवल इसी अंश में अधिक है कि सामयिक रचना समय की माँग पूरी करके मिट जायगी और अमर विषय पर लिखी गयी रचना का महत्त्व सदैव बना रहेगा।

प्रगतिवाद की रचना भी युग-युग की संपत्ति तब हो सकती है जब उसमें मानव की उन शाश्वत प्रवृत्तियों की व्यञ्जना की प्रधानता दी जाय, जो प्रत्येक युग में समान रूप से महत्त्वशील हैं; उन सामाजिक परिस्थितियों और समस्याओं को नहीं जो परिवर्त्तन के श्वास-समीर का स्पर्श पाकर अपना रंग बदल डालती हैं। इन शाश्वत प्रवृत्तियों पर किसी राम का या किसी बुद्ध का ही कापीराइट नहीं। होरी, किरणमयी और शेखर की मानसिक प्रवृत्तियाँ अपने मूल रूप में कम महत्त्व नहीं रखतीं।

आशय यह कि साहित्य में लोक-जीवन की प्रतिष्ठा आवश्यक है और यदि साहित्य जनता के जीवन को अत्यन्त सरस रूप में चित्रित करने का सफल प्रयास करता है तो वह अवश्य उत्कर्ष का अधिकारी है और इस दृष्टि से जहाँ एक ओर अपने विशिष्ट युग के लिए इस युग की विशिष्ट सामाजिक

समस्याओं का भी महत्त्व है वहाँ दूसरी ओर उन असंख्य नर-नारियों के जीवन और उनकी परिस्थितियाँ भी महत्त्व रखती हैं जिनके जीवन में महिम या उदात्त भाव का लेशमात्र भी नहीं।

**आदर्शात्मक व्यञ्जना और उपदेश**—लेकिन इसका आशय यह नहीं होना चाहिए कि कविता केवल छोटी-छोटी बातों को लेकर ही चले और इससे पाठकों के दृष्टि-क्षितिज के विस्तार और व्यक्तित्व के उत्कर्ष का अवसर ही न मिले। व्यक्तिगत संस्कारों के परिमार्जन द्वारा सम्पूर्ण समाज के नैतिक स्तर का अभ्युत्थान और संस्कृति का निर्माण और परिष्कार किसी भी कवि की ऐसी जवाबदेही है जिसकी वह अवहेलना नहीं कर सकता। अपनी कविता द्वारा जहाँ एक ओर पाठकों को लोक-जीवन से परिचित कराने का और सामाजिक समस्याओं के प्रति सजग कराने का प्रयत्न वह करता है, वहाँ दूसरी ओर विषय के चुनाव और शैली के कौशल द्वारा वह जनता के रुचि-परिष्कार की ओर भी ध्यान रखता है। मानव के कुत्सित मनोवेगों को उद्बोधित कर हल्की-फुल्की रचनाओं द्वारा सस्ती वाहवाही लूटने के अभिलाषी कवि उत्कृष्ट कवियों की कोटि में इसलिए नहीं आ सकते कि अपनी रचनाओं द्वारा पाठकों के नैतिक धरातल के उत्कर्ष में ये साधक होने के बजाय बाधक हैं। कविकर्म का कौशल लोक-कल्याण की भावना को लेकर जब चलेगा तो कवि की पुनीत वाणी पाठकों के हृदय की प्रसुप्त सद्वृत्तियों को जगाकर आदर्श मानवता के निर्माण में सहायक होगी। लेकिन कविता में खुला उपदेश अथवा नैतिक सिद्धान्तों का विवेचन हो, इसकी सिफारिश मैं नहीं करता। नैतिक और आदर्शात्मक प्रेरणा का स्रोत कवि के साधनाभूत व्यक्तित्व से निसृत हो। कवि का व्यक्तिगत जीवन आदर्श होना चाहिए और उसके हृदय में विश्व-प्रेम की मन्दाकिनी का प्रवाह होना चाहिए, जिसमें कवि अपने व्यक्तित्व की व्यञ्जना द्वारा मानव के दैवी सद्गुणों के विकास में अपनी कविता द्वारा अनायास सफल हो सके। एक नूतन मानव-संस्कृति के निर्माण में कवि का सहयोग इसी रूप में अपेक्षित है कि वह मानव-मन के परिष्कार की साधना में व्यक्तिगत रूप से संलग्न हो और अपनी रचना द्वारा समाज को भी संलग्न बनाये।

प्रेम, सहयोग और सामंजस्य की प्रेरणा—कवि की वाणी मानव-ऐक्य और मानव-सामंजस्य की वाणी हो। कवि का जीवन-संगीत विश्व के अणु-अणु को संगीतमय करने का प्रयास करे। व्यक्ति और व्यक्ति का द्वन्द्व, मानव-तुच्छताएँ और स्वार्थपरता, मनुष्य के सीमित एकदेशीय प्रयासों के कारण सामाजिक संघर्ष आदि से ऊपर उठाकर कवि हमें जब अस्तित्व के उस चरम धरातल पर ले आने का प्रयास करता है जहाँ समस्त मानवता प्रेम के सूत्र में बँध जाती है और हृदय अखंड मानव-ऐक्य के रस-बोध में निमग्न हो जाता है, तो वह कवि अवश्य उत्कृष्ट कवि कहलाने का अधिकारी है। काव्योत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि कवि की रचना का प्रभाव प्रेममूलक और सामंजस्य प्रेरक हो। हृदय-हृदय के बीच सौहार्द्र और प्रेम का सेतु बाँध अखंड मानवता के निर्माण में ही साहित्य की सार्थकता है।

## (iv) आलोचक की दृष्टि से

आलोचना-पद्धति के विचार से—आलोचना-पद्धति के भेद से काव्योत्कर्ष का मान बढ़ता-घटता है; क्योंकि विभिन्न आलोचना-पद्धतियों से किसी रचना पर विचार करने का परिणाम भिन्न-भिन्न होगा। एक ही रचना यदि गुणदोषात्मक आलोचना के फलस्वरूप उत्कृष्ट सिद्ध होगी, तो विश्लेषणात्मक आलोचना द्वारा उसके वास्तविक मूल्य का कुछ पता भी नहीं चल सकता है। इसी प्रकार कुछ ऐसी रचनाएँ भी संभव हैं जिनमें पूर्व-निर्धारित विशिष्ट गुणों के अभाव के कारण वह रचना गुणदोषात्मक आलोचना पद्धति की कसौटी पर निम्न कोटि की प्रमाणित होगी ; लेकिन विश्लेषणात्मक या व्याख्यात्मक समीक्षा द्वारा उसकी आन्तरिक मार्मिकता का प्रभावशाली उद्‌घाटन संभव होगा। इसलिए इस सिलसिले में सबसे आवश्यक यह है कि आलोचक किसी विशिष्ट रचना के संबंध में अपनी आलोचना-पद्धति के औचित्य पर भली भाँति विचार कर ले तभी उस रचना के वास्तविक मान का निर्णय संभव है।

विशिष्ट आलोचना—पद्धति के निश्चय में आलोचक का पथ

खतरे से खाली नहीं। यदि वह निर्णयात्मक या गुणदोषात्मक शास्त्रीय आलोचना का प्रश्रय ले तो खतरा यह है कि जिन पूर्वनिर्णीत सिद्धान्तों पर उसकी आलोचना आश्रित होगी, वे सिद्धान्त सर्वांश में सत्य या रचना-विशेष की दृष्टि से उचित नहीं भी हो सकते हैं। और यदि सिद्धान्त ही भ्रामक हुए, तो आलोचना का परिणाम भी अवश्य भ्रमपूर्ण होगा। बात यह है कि दुनिया में अच्छाई-बुराई, गुण और अवगुण की कसौटियाँ परिस्थिति-सापेक्ष हैं। बदली हुई परिस्थितियों में गुणावगुण के मानदंड भी बदल जाते हैं। और हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि व्यक्ति या समाज की कोई विशेषता सनातन रूप से गुण की ही कोटी में अथवा दोष की ही कोटि में परिगणित होगी। अतएव कविता में भी शास्त्रों में वर्णित गुण-दोषों का महत्त्व सदैव उसी रूप में रहे, यह आवश्यक नहीं। इसलिए कविता की शास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक को अत्यन्त सावधानी से पूर्वनिर्णीत सिद्धान्तों की जाँच कर लेनी चाहिए कि इन सिद्धान्तों की कसौटी पर किसी विशेष रचना का परीक्षण कहाँ तक उचित होगा।

यदि आलोचक कविता की आलोचना विश्लेषणात्मक या व्याख्यात्मक पद्धति से करे तो कविता के विभिन्न अवयवों का अलग-अलग परीक्षण अपेक्षित होता है; लेकिन कविता के वास्तविक उत्कर्ष का अन्दाज लगाने के लिए यह पद्धति नितान्त भ्रामक है। क्योंकि कविता खंड-खंड करके परखने की वस्तु नहीं है—वह एक जीवित स्पन्दनशील सामंजस्यपूर्ण इकाई है, एक संश्लिष्ट भाव-योजना है। अतः उसे अपनी सम्पूर्णता में देखना होगा। मस्तिष्क की विभाजन-क्रिया द्वारा उसकी वैज्ञानिक परख करके हम चाहे उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित ही हो लें; लेकिन उसके सम्पूर्ण संश्लिष्ट प्रभाव का अनुभव हमें नहीं हो सकता। क्योंकि, कविता कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की वाणी है और उसको सम्पूर्ण व्यक्तित्व से ही ग्रहण किया जा सकता है। इसलिए उसके उत्कर्ष के महत्वांकन के लिए यह आवश्यक है कि सरस हृदय आलोचक अत्यन्त सहृदयतापूर्वक अपने पूरे व्यक्तित्व से उसके संश्लिष्ट प्रभाव को ग्रहण करे।

लेकिन इस प्रकार की प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षा से भी कविता के उत्कर्ष का परिमाण पूर्ण रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता ; क्योंकि प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षा में खतरा यह है कि आलोचना वायवी न हो जाय।

काव्यालोचन की वास्तविक प्रणाली वह होगी जिसमें पहले सहृदय आलोचक कविता के संश्लिष्ट प्रभाव को ग्रहण कर कवि की अनुभूतियों का अनुभव करता है और रागात्मिकावृत्ति की इस प्रक्रिया के साथ-साथ उसका मस्तिष्क सजग होकर अन्दाज लगाता है कि कवि की भावानुभूति किस कोटि की है, कितनी गहरी है, उसमें कितनी महानता है। और तब आलोचक रचना के विभिन्न अवयवों के परीक्षण द्वारा इस प्रभावशाली अनुभूति के कारणों की खोज करता है। तात्पर्य यह कि उसकी आलोचना द्वारा जहाँ एक ओर कविता के संश्लिष्ट प्रभाव का साक्षात् पाठकों को होता है, वहाँ दूसरी ओर इस प्रभाव के कारण-तत्वों की छान-बीन भी विश्लेषणात्मक पद्धति पर होती है। काव्योत्कर्ष के निर्णय में प्रत्येक आलोचक को इस ओर सजग रहना चाहिए

काव्य-प्रवृत्तियों के विचार से—किसी रचना को किसी विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास अपनी सुविधा के लिए आलोचक किया करते हैं। आलोचक या इतिहास-लेखक कवियों की रचनाओं का वर्गीकरण विभिन्न 'वादों' के रूप में इसलिए करते हैं कि इन विविध रचनाओं की विशेषताओं को सिलसिलेवार रूप से समझा जा सके। फलतः कोई कविता छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद, स्वच्छन्दतावाद, परम्परावाद, हालावाद, पलायनवाद आदि की कह दी जाती है। इससे रचना के मूल्यांकन में आसानी होती है। लेकिन स्वयं कवि अपनी कविताओं को किसी वाद-विशेष के विचार से नहीं लिखते। कवि की भावनाएँ सिद्धान्तों की अनुचरी नहीं होतीं। अतः 'वादों' की चौखटे में उसे सदा 'फीट' नहीं किया जा सकता। इसी से वादों की सीमा में बाँधकर रचना को परखना काव्योत्कर्ष के निर्णय की दृष्टि से सदैव उपादेय नहीं होता।

इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि किसी वादविशेष के अन्तर्गत आ जाने की योग्यता से ही कोई रचना उत्कृष्ट या अपकृष्ट नहीं कही जा सकती। कोई एक वाद निश्चय रूप से दूसरे वादों से श्रेष्ठ हो, ऐसा नहीं है। लेकिन इन विभिन्न वादों की, उत्कर्प-अपकर्ष की दृष्टि से, कुछ विशेषताएँ हैं अवश्य, जिनपर विचार कर लेना चाहिए।

प्रगतिवाद—कहा जा चुका है कि प्रगतिवाद की कविता युग-विशेष के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जनता के जीवन की कहानी होने के कारण जनता के लिए वह अत्यन्त रोचक और आकर्षक तो हो ही सकती है, साथ ही समाज के उन्नतोन्मुख शक्तियों को प्रोत्साहन देने के कारण किसी भी पददलित समाज के अभ्युत्थान में वह सहायक है। आज हिन्दी में प्रगतिवाद का जो स्वरूप है, उसका महत्त्व इस युग के लिए कम नहीं। क्योंकि वह भारत की पीड़ित मानवता की आशा है, देश के क्रान्तिकारी तारुण्य की आवाज है और एक नूतन समतापूर्ण स्वतंत्र मानवलोक के निर्माण का स्वप्नदर्शी है। लेकिन इन उद्देश्यों के सिद्ध होते ही प्रगतिवाद का महत्त्व कुछ भी नहीं रह जायगा। प्रगतिवाद की रचना यद्यपि अपने युग की दृष्टि से बहुत महान् है, फिर भी उसका महत्त्व और उत्कर्ष अपने युग तक ही सीमित है। हाँ, यदि उसमें शाश्वत और विश्वजनीन भावनाओं की व्यंजना की विशेषता हुई, तो वह बहुत दिनों तक जीवित रहने की आशा करने का अधिकार अवश्य रखती है। लेकिन शाश्वत और चिरन्तन की व्यंजना प्रगतिवाद की शर्त नहीं, साहित्य इसके बिना भी प्रगतिवादी हो सकता है, यदि उसमें प्रगतिवाद का सिद्धान्त-तत्त्व रागात्मक ढंग से व्यंजित हुआ हो।

छायावाद और रहस्यवाद—छायावाद और रहस्यवाद का विषय मानव की अन्तरतम की अनुभूति है। अतः इन वादों के अन्तर्गत आनेवाली रचनाएँ युग-युग की वाणी हैं। किसी युग-विशेष में जब सामाजिक संघर्षों के कोलाहल में व्यक्ति को अपने अस्तित्व की पुकार सुनने का अवसर न मिलता हो—भले ही ऐसी रचनाओं का महत्त्व प्रगतिवाद से अधिक नहीं समझा जाय—लेकिन ये रचनाएँ प्रत्येक युग में मानव-हृदय को शीतलता

और प्रकाश देनेवाली रहेंगी। यह कहा जाता है कि रहस्यवाद का विषय-क्षेत्र ससीम-असीम का प्रेम होने के कारण अत्यन्त संकुचित और वास्तविक लोक-जीवन से सर्वथा असम्बद्ध है। इनके अन्तर्गत मानव-जीवन की अनेक मार्मिक परिस्थितियों और मानव-हृदय के अनेक मार्मिक भावों की व्यंजना के लिए अवकाश नहीं। अतः ऐसी रचना केवल कुछ विशेष प्रकार के अन्तर्मुखी स्वभाववाले व्यक्तियों के लिये ही महत्त्व रखती है। उस विशाल जनसमुदाय के लिए जिनके पारस्परिक जीवन के रंग-मंच पर प्रेम-विरह, हर्ष-विषाद, विजय-पराजय, उत्साह-शोक आदि के नाटक नित्य खेले जा रहे हों, अरूप और अदृश्य से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी रचनाओं का महत्त्व कुछ भी नहीं है। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है, पर साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि रहस्यवाद की उत्कृष्टतम रचनाओं में से जो आध्यात्मिक उन्मेष वर्तमान रहता है, उसका सम्बन्ध प्रत्येक ऐसे व्यक्ति से है जिसकी देह के भीतर एक जीवित सजग आत्मा वर्तमान है; क्योंकि आध्यात्मिक प्यास मानव-अस्तित्व के मूल में ही है; जीवन के कोलाहल में इसे हम भूल भले ही जायँ।

**पलायनवाद और हालावाद**—इन वादों के अन्तर्गत आनेवाली रचनाएँ मनुष्य को अपनी दुर्बलताओं और असफलताओं के दर्शन से क्षणिक मुक्ति प्रदान करने की क्षमता के कारण विश्रान्तिप्रद अवश्य हैं। जीवन-पथ के थके पथिक के लिए ये उस वटछाया के समान हैं जिसके नीचे पल भर थकावट दूर कर लेना पाप नहीं। लेकिन इन कविताओं का महत्त्व सामाजिक अभ्युत्थान, मानव-वृत्तियों के परिष्कार अथवा आध्यात्मिक उन्मेष की दृष्टि से कुछ भी नहीं है। यह प्रवृत्ति एक संघर्षशील उगते हुए राष्ट्र के यौवन के लिए अस्वास्थ्यकर भी कही जा सकती है; क्योंकि देश की चिन्ता-धारा को भ्रान्त बनाने के लिये पर्याप्त बल इसमें है।

**परम्परावाद**—इसके अन्तर्गत काव्य-रचना पूर्व-परीक्षित मार्ग पर चलकर होती है। अतः काव्योत्कर्ष की उपलब्धि कवि को उपेक्षाकृत सहज रूप में हो जाती है। ख्यातवृत्त, महान् चरित्र और महदनुष्ठान की योजना

आदि के कारण काव्योत्कर्ष की दृष्टि से परम्परावाद के अन्तर्गत आनेवाली रचनाएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। लेकिन कभी-कभी सनातन आभिजात्य की एकरसता के कारण नवीनता का अभाव खटकनेवाला भी हो जाता है।

**स्वच्छन्दतावाद**—इस वाद का कवि नवीन मार्ग का अनुसंधान करता है। जन-जीवन की उन सभी स्वाभाविक वृत्तियों को अपनी कविता में वह स्थान देता है जिनमें उसके सरल हृदय को मार्मिकता दीखती है और उसकी सौन्दर्य-विधायनी दृष्टि रजकण में भी पारिजात की सुन्दरता की सृष्टि करने में समर्थ होती है। इसलिए स्वच्छन्दतावाद की कविता में नित्य नूतन वैचित्र्य, औत्सुक्य तथा आकर्षण स्वभावतः होते हैं। पर इस मार्ग पर चलनेवाले कवि के लिए भय यह है कि उसका काव्य-विषय इतना नगण्य न हो जाय कि रस-परिपाक अनुचित रूप से होने के कारण उसमें रस-व्यञ्जना के बजाय रसाभास की व्यञ्जनामात्र हो। अतः कभी-कभी स्वच्छन्दतावाद की कविताएँ आलंबन की महत्त्व-हीनता के कारण परम्परावाद की कविताओं के समान मानव के तीव्रतम और गहनतम मनोवेगों को जगाने में उतना समर्थ नहीं होतीं।

**कलावाद और अभिव्यञ्जनावाद**—इन दोनों की रचनाओं का महत्त्व काव्योत्कर्ष की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं है, क्योंकि इसमें उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता के कारण विषय और रस-व्यन्जना का स्थान अत्यन्त गौण हो जाता है। ऐसी रचनाओं से व्यक्ति-विशेष का विशेष क्षणों में क्षणिक मनोरंजन भले ही हो, पर व्यक्ति के जीवन पर, उसके संस्कारों पर और उसके द्वारा देश की संस्कृति आदि पर उसका कोई स्थायी और गहरा प्रभाव नहीं पड़ता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन विभिन्न वादों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ काव्योत्कर्ष की दृष्टि से हैं। फिर भी अन्तिम रूप से यह कहना उचित नहीं कि किसी वाद-विशेष में अन्तर्भुक्त हो जाने से ही कोई कविता उत्कृष्ट या अपकृष्ट हो जाती है।

**आलोचक का व्यक्तित्व**—आलोचक के व्यक्तित्व का प्रभाव किसी कविता के उत्कर्ष के मूल्यांकन पर किस रूप में पड़ता है, यह विचारणीय है।

कविता कवि के हृदय की वाणी है। अतः एक सहृदय मर्मज्ञ आलोचक हृदय द्वारा उस वाणी को ग्रहण करके ही उसका महत्त्व-निर्धारण कर है। केवल मस्तिष्क की विश्लेषणात्मक या तुलनात्मक या कार्य-व सम्बन्धात्मक प्रक्रियाओं द्वारा कविता (अथवा किसी भी कला) का मूल संभव नहीं। काव्योत्कर्ष के सम्यक् निर्धारण के लिए आलोचक का व्य ऐसा होना चाहिए, जिसका सहज सामंजस्य कवि के व्यक्तित्व के उपस्थित किया जा सके।

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि आलोचक किसी क्षण-विशे मूड-विशेष में ही किसी रचना को पढ़कर उसके उत्कर्ष के सम्बन्ध में निर्णय पर न पहुँच जाय। उसे कई बार, कई दिन, कई प्रकार से को विभिन्न परिस्थितियों के बीच पढ़कर उसके उत्कर्ष के सम्बन्ध में निर्णय पर पहुँचना चाहिए। जो कविता, किसी क्षण-विशेष में आलोचक को आह्लादित या प्रभावित कर सकती है और दूसरे क्ष उसका कोई प्रभाव नहीं परिलक्षित होता, वह कविता उत्कर्ष की अधिक नहीं है। उत्कृष्ट कविता सभी क्षणों में, सभी परिस्थितियों में बहुत समान रूप से प्रभावपूर्ण है और उसका रसास्वादन मूड-विशेष पर न नहीं। कविता में ऐसा प्रभाव होना चाहिए, इतने तीव्र भावोद्रेक की होनी चाहिए कि वह बरबस पाठक या आलोचक को हँसा-रुला और अपने रसास्वादन के लिए अपेक्षित 'मूड' बना ले सके।

## कवि की दृष्टि से

काव्यालोचन के अंतर्गत काव्योत्कर्ष की जितनी कसौटियाँ बतलायी वे सभी कवि निरपेक्ष हैं। लेकिन कविता का सम्बन्ध कवि के व्यक्ति अंतरतम स्तरों से है। अतः कविता के मूल्यांकन में कवि के व्यक्तित्व क भी ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह तो आवश्यक है ही कि कविता का कवि के व्यक्तित्व के साथ अधिक-से-अधिक हो। कवि की भवानु

कल्पित या साम्प्रदायिक नहीं होनी चाहिये वरन् अपने निजी जीवन में वास्तविक रूप से अनुभूत होनी चाहिए। रहस्यवाद की कुछ कविताओं में जहाँ साम्प्रदायिकता के चक्कर में कवि पड़ गया है, भावोन्मेष की उस तरल उष्णता का अभाव हो गया है जिसके कारण कविता में जीवन की साँस रहती है। इस दृष्टि से कबीर को जहाँ स्वाभाविक रहस्यवादी माना गया है, वहाँ महादेवी की अधिकांश कविताओं में कुछ आलोचकों को रहस्यवाद के अत्यन्त परिष्कृत पर प्राणहीन साम्प्रदायिक रूप के दर्शन हुए हैं। कविता का प्रभाव पाठकों के हृदय पर तभी पड़ेगा जब उसमें अनुभूति की सच्चाई होगी और इस अनुभूति की सच्चाई के लिए है यह आवश्यक है कि कवि का हृदय अत्यन्त संवेदनाशील हो तथा उसके मस्तिष्क और हृदय में इस प्रकार का सामंजस्य हो कि वह अपनी भावानुभूति को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त कर सके।

आदर्श कविता, जिसमें उक्त भावानुभूति की सच्चाई एक आवश्यक शर्त्त है, हर समय नहीं लिखी जा सकती। वह कवि के उत्कृष्टतम क्षणों की वाणी है। कवि के जीवन में कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं जब वह सांसारिक तुच्छताओं से ऊपर उठकर भावोन्मेष के उस धरातल पर निवास करता है जब संसार का प्रत्येक पदार्थ, लता-पुष्प, गिरि-निर्झर, पशु-पक्षी या मानव एक अभिनव आलोक में उसे दिखाई पड़ता है। इस क्षण में कवि समस्त विश्व को अपने प्रेममय व्यक्तित्व के रंग में रँगा हुआ देखता है। इस क्षण में समस्त जड़-चेतन उसके व्यक्तित्व के प्रेममय आलिंगनपाश में बँध-से जाते हैं और इसीलिए इस क्षण में उसकी वाणी व्यक्ति व्यक्ति के अन्तरतम की वाणी होती है, उसके व्यक्तित्व के प्रकाशन में विश्व के हृदय की धड़कन की कहानी होती है। लेकिन ऐसे क्षण कवि के जीवन में सदैव नहीं होते और जब कभी ये विरल क्षण आते हैं तो कवि अमर और उत्कृष्ट कविताएँ लिखने का अवसर पाता है।

एक महान् कवि समाज का एक उत्कृष्टतम प्राणी है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व अत्यन्त परिष्कृत और उसका हृदय अत्यन्त कोमल एवं विशाल होता है। कवि का आदर्श महान् होना चाहिए और व्यक्तित्व महिमापार्थिव

तुच्छताओं और ममत्व से ऊपर विश्वप्रेम के आलोकपूर्ण स्तरों पर उसे अधिक-से-अधिक समय के लिए रहने में समर्थ होना चाहिए। उसके जीवन में उत्कृष्टतम क्षणों की संख्या भी अधिक हो सकती है और उसकी रचनाओं का उत्कर्ष-धरातल समान रूप से ऊँचा रह सकता है। काव्योत्कर्ष कवि के व्यक्तित्व के ऐसे ही उत्कर्ष के अनुपात में ही मान्य होना चाहिए।

आदर्श कवि एक ऐसा महर्षि होता है जिसकी अधिकांश कविताएँ मूक रूप से उसके आचरण में अभिव्यक्ति पाती हैं; क्योंकि उसका एक-एक क्षण कविता है। संसार इन क्षणों में से केवल विशिष्ट क्षणों का परिचय लिखित साकार कविताओं के रूप में पाता है; लेकिन एक व्यापक उन्मेष से उसका व्यक्तित्व सदैव सजग और आह्लादमय रहता है।

# परिशिष्ट ( क )

## शब्द-शक्तियाँ

शब्द-शक्तियाँ, शब्द की वे शक्तियाँ, जिनके सहारे किसी शब्द के अर्थ या अर्थों की प्रतीति होती है, तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

अभिधा—शब्द की वह शक्ति जिसके द्वारा शब्द का प्रसंग में अपेक्षित किसी अर्थ या अर्थों का बोध हो, अभिधा कहलाती है। उदाहरण—'आज हरि गेंद खेलने नहीं आया'। इसमें प्रयुक्त हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे—विष्णु, कृष्ण, बन्दर, हरि नाम का व्यक्ति आदि। यहाँ प्रसंग के कारण 'हरि' शब्द अपने पिछले अर्थ में ( हरि नाम के व्यक्ति के अर्थ में ) बँध गया है। अतः हरि शब्द से अर्थ-ग्रहण अभिधा-शक्ति के कारण होता है। अतः अभिधा से साक्षात् सांकेतित अर्थ का बोध होता है अथवा शब्द का सीधा अर्थ ग्रहण किया जाता है। अभिधा में तीन प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़। रूढ़ वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति या अवयवार्थ न हों। जैसे—गज। यौगिक शब्द वे हैं जिनका अर्थ उनके अवयवार्थ के योग से बनता है, जैसे दिनकर, भूपति, सुधाकर। योगरूढ़ शब्द वे हैं, जो यौगिक होते हुए भी रूढ़ हैं अर्थात् अवयवार्थों के योग से बने अपने अनेक अर्थों में से किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं। जैसे—सरसिज, पयोधि, चक्रपाणि आदि। जिस शब्द का अभिधा द्वारा अर्थ ग्रहण होता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं और उसके अर्थ को अभिधार्थ, वाच्यार्थ वा मुख्यार्थ कहा जाता है।

लक्षणा—जब किसी शब्द के मुख्यार्थ का बाध हो और उससे सम्बद्ध कोई दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाये, तो वहाँ लक्षणा-शक्ति होती है। उस शब्द को लक्षक-शब्द और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। लक्षणा का प्रयोग रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण होता है। इस प्रकार लक्षणा में तीन विशेषताओं का होना आवश्यक है—(१) अभिधार्थ का बाध ( जब अभिधा से अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सके ), ( २ ) अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध और ( ३ ) रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

जहाँ केवल रूढ़ि के कारण अथवा प्रयोग-बाहुल्यमात्र के कारण अभिधार्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ रूढ़ि लक्षणा हुआ करती है। जैसे—भारत संग्राम में विजयी बनेगा। यहाँ भारत शब्द लक्षक शब्द है, क्योंकि भारत शब्द से अभिधार्थ का ग्रहण नहीं होता। भारत का अर्थ भारत देश नहीं वरन् भारत के निवासी ग्रहण किया जायगा, क्योंकि विजयी होने की क्षमता भारत के निवासियों में है, भारत देश के मिट्टी-पानी आदि जड़ पदार्थों में नहीं। यहाँ भारत शब्द के अभिधार्थ का बाध है, क्योंकि अभिधार्थ मिट्टी-पानी आदि ग्रहण करने से हमारा काम नहीं चलता, क्योंकि ये जड़ हैं। अतः इस अभिधार्थ से भिन्न हम एक दूसरा अर्थ लक्ष्यार्थ ग्रहण करते हैं और वह है भारत के निवासी। इस अर्थ का अभिधार्थ से सीधा सम्बन्ध है। यहाँ अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ में आधार-आधेय-सम्बन्ध है। अतः यहाँ भारत शब्द में आधार-आधेय सम्बन्ध से लक्षणा है। अब लक्षणा की तीसरी विशेषता पर ध्यान दें तो हमें ज्ञात होगा कि यहाँ 'भारत के निवासी' के बदले 'भारत' कहने का कोई प्रयोजन नहीं, वरन् केवल प्रयोग-बाहुल्य अथवा रूढ़ि है। अतः यहाँ रूढ़ि लक्षणा है।[1]

---

१ रूढ़िलक्षणा के निम्नलिखित भेद हैं।—
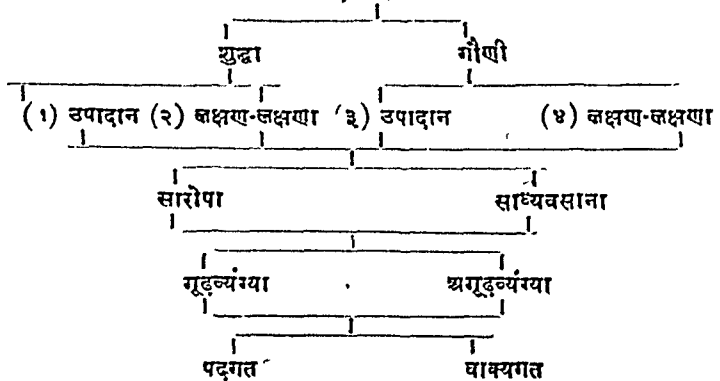
जहाँ किसी विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणा शब्द का उपयोग होता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। उदाहरण—गंगा पर घर है। यहाँ गंगा लक्षक शब्द है। इसका अभिधार्थ है गंगा की धारा या जल प्रवाह। लेकिन गंगा की धारा या जल-प्रवाह के ऊपर घर का होना असंभव है, इसलिए यहाँ अभिधार्थ से काम नहीं चलता, अभिधार्थ का बाध है। यहाँ गंगा शब्द का अर्थ गंगा-तट लिया जायगा, प्रवाह नहीं। अभिधार्थ गंगा-प्रवाह और लक्ष्यार्थ गंगा-तट में सामीप्य संबंध भी है। यह लक्षणा रूढ़ि लक्षणा इसलिए नहीं है कि इसमें लक्षणा-शक्ति के प्रयोग का कारण एक विशिष्ट प्रयोजन है, केवल प्रयोग-बाहुल्य नहीं। वह यह कि 'गंगा-तट' का कथन न कर गंगा शब्दमात्र का कथन करने से इसमें घर की पवित्रता, शीतलता आदि का आधिक्य सूचित होता है। क्योंकि पवित्रता, शीतलता आदि गंगा के प्रवाह के गुण हैं, गंगा-तट के नहीं। पवित्रता, शीतलता आदि के आधिक्य की व्यञ्जना ही यहाँ प्रयोजन है। अतः यहाँ लक्षणा प्रयोजनवती है।[1]

जहाँ अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध रहे, वहाँ गौणी लक्षणा होती है। जैसे—मुख चाँद है।

---

[1] प्रयोजनवती लक्षणा के निम्नलिखित भेद हैं—

प्रयोजनवती लक्षणा
- गौणी
  - सारोपा
  - साध्यवसाना
- शुद्धा
  - उपादानलक्षणा
    - (१) सारोपा
    - (२) साध्यवसाना
  - लक्षण-लक्षणा
    - (३) सारोपा
    - (४) साध्यवसाना
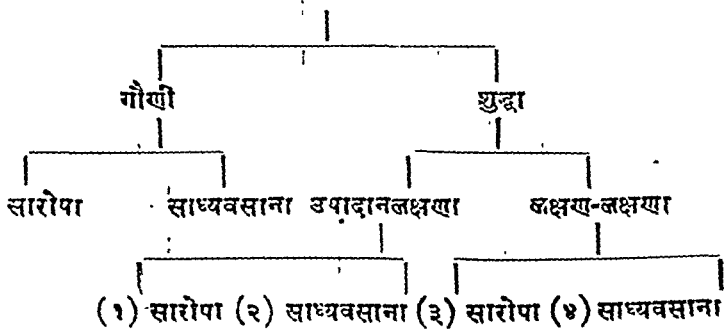
जहाँ सादृश्य के बदले अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ में कोई दूसरा सम्बन्ध हो, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे—गंगा पर घर है। इसमें सामीप्य सम्बन्ध है।

उपादान लक्षणा वह है जिसमें अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय अर्थात् अपने अर्थ के अतिरिक्त लक्षक शब्द में कोई दूसरा अर्थ भी खींच लाया जाय। जैसे—भाले आ रहे हैं।

लक्षण-लक्षणा में अभिधार्थ को बिलकुल छोड़ दिया जाता है और सर्वथा भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे—गंगा पर घर। इसमें प्रवाह का अर्थ बिलकुल छोड़ दिया जाता है और तट का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

सारोपा में आरोप्यमान ( अप्रस्तुत ) और आरोप के विषय ( प्रस्तुत ) दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है। जैसे—मुख चाँद है। लेकिन साध्यवसाना में आरोप के विषय का शब्द द्वारा कथन नहीं होता, केवल आरोप्यमान का कथन होता है। जैसे—( मुख की ओर संकेत कर ) चाँद है।

जब व्यंग्यार्थ अत्यन्त गूढ़ हो तो गूढ़ व्यंग्य और जहाँ आसानी से समझ में आ जाय वहाँ अगूढ़व्यंग्य लक्षणा होती है। इसी प्रकार जहाँ एक पद में लक्षणा हो, वहाँ पदगत और जहाँ समूचे वाक्य में हो वहाँ वाक्यगत लक्षणा होती है।

व्यंजना—अभिधा और लक्षणा द्वारा अर्थ प्रतीति का कार्य समाप्त हो जाने पर यदि कोई अन्य अर्थ अभिव्यक्त हो, तो उस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं और जिस शक्ति के सहारे इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। व्यंजना के भेद आगे दिये जाते हैं:—
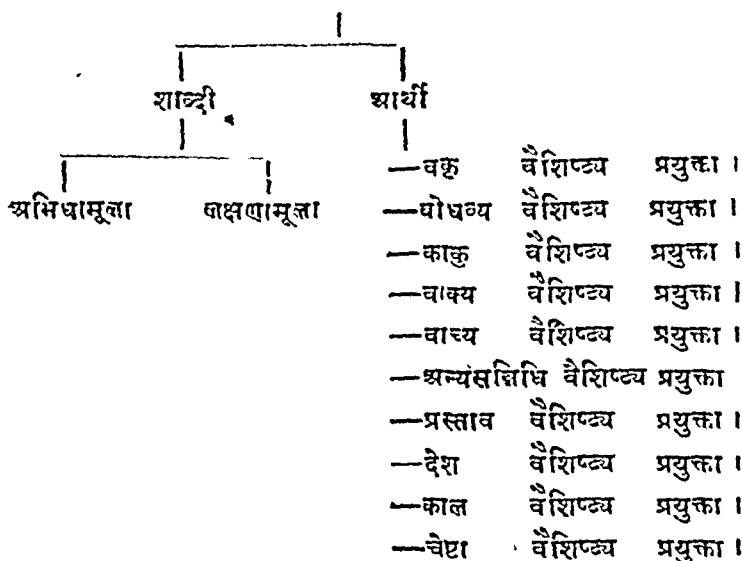
शब्द पर आधारित व्यञ्जना का प्रथम भेद अभिधामूला व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ अभिधा द्वारा अर्थ-ग्रहण के पश्चात् तत्काल ही सीधे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे—'संध्या हो गयी।' इस पद का अभिधार्थ केवल काल-विशेष की सूचनामात्र है, पर विभिन्न प्रसंगों के अनुसार अभिधार्थ की सूचना के पश्चात् भी कुछ अर्थ ध्वनित हो सकते हैं। जैसे—गृहस्वामिनी यदि अपनी दासी से कहे कि संध्या हो गयी तो इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि 'अब दिये जलाओ' यदि यही उक्ति मैदान में खेलते बच्चों की हो तो इसका अर्थ यह निकलेगा कि अब खेल बन्द करके घर चलना चाहिए।

लेकिन जहाँ अभिधा का बाध हो और लक्षणा-शक्ति का प्रयोग हो, वहाँ व्यञ्जक शब्द द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ-ग्रहण के पश्चात् हुआ करती है। प्रयोजनवती लक्षणा में जो अर्थ लक्षणा के प्रयोजन-रूप में गृहीत होता

है, वह व्यंग्यार्थ ही है। जैसे—गंगा पर घर। इस उदाहरण में पहले लक्षणा द्वारा गंगा शब्द का अर्थ गंगा का प्रवाह न लेकर गंगा-तट लिया जायगा। इसके पश्चात् यह अर्थ सूचित होता है कि यह घर अत्यन्त पवित्र है। यही सूचित करना लक्षणा का प्रयोजन है। और यही प्रयोजन-रूप अर्थ लक्षणा-मूला-शाब्दी-व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त व्यंग्यार्थ है।

आर्थी-व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ शब्द विशेष पर नहीं वरन् उसके अर्थ पर आधारित होता है। इसके विभिन्न भेदों पर विचार करना यहाँ अनावश्यक है।

ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ ध्वनि होती है। जैसे—रसात्मक प्रसंगों में रस ध्वनित होता है; क्योंकि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में ही अधिक चमत्कार होता है।

# परिशिष्ट ( ख )

## रस

रस असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत है। असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य-ध्वनि आठ प्रकार की होती है—(१) रस (२) भाव (३) रसाभास (४) भावाभास (५) भावशांति (६) भावोदय (७) भाव सन्धि (८) भाव-सबलता। इनमें रस मुख्य है। रस काव्य की आत्मा है। रस की निष्पत्ति के लिए निम्नलिखित चार तत्वों की आवश्यकता है।—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव। विभाव दो प्रकार के होते हैं—(क) आलंबन (ख) उद्दीपन।[1] आलंबन और उद्दीपन विभाव क्रमशः प्रधान और

---

१ विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः।

( भरत मुनि—नाट्यशास्त्र )

सहकारी कारण हैं तथा स्थायीभाव और संचारी भाव कार्य।[1]

**स्थायीभाव**—रस का प्रधान अवयव है, जो किसी रचना या रचना-खण्ड में आरम्भ से अन्त तक रहता है और विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस-दशा को प्राप्त होता है। स्थायीभाव प्रत्येक रस के लिए नियत हैं। एक रस का स्थायीभाव दूसरे रस में संचारी के रूप में भले आ जाय, स्थायीभाव के रूप में नहीं आ सकता। निम्नलिखित नव रसों के स्थायीभाव अलग-अलग दिखलाये गये हैं—

| रस | स्थायीभाव |
|---|---|
| ✓शृंगार | रति ( प्रेम ) |
| ✓वीर | उत्साह |
| ✓करुण | शोक |
| ✓अद्भुत | आश्चर्य |
| ✓हास्य | हास |
| ✓भयानक | भय |
| ✓रौद्र | क्रोध |
| ✓शांत | निर्वेद |
| ✓बीभत्स | घृणा (जुगुप्सा) |

**विभाव**—जो स्थायीभाव के कारणभूत आधार हैं, उन्हें आलंबन कहते हैं। आलंबन को देखकर ही आश्रय में स्थायीभाव की उत्पत्ति होती है, जो उद्दीपन विभाव द्वारा अतिशय दीपित होकर रस-दशा को प्राप्त होता है। इस प्रकार उद्दीपन विभाव का काम आलंबन द्वारा उत्पन्न स्थायीभाव का पोषक है। नीचे विभिन्न रसों के आलंबन और उद्दीपन क्रमशः दिये गये हैं।

---

१ काव्य प्रकाश चार। ३७-३८—आचार्य मम्मट।

| रस | आलंबन | उद्दीपन | आश्रय |
| --- | --- | --- | --- |
| श्रृंगार | नायक अथवा नायिका | वसंत श्री, उद्यान, चाँदनी आदि | नायिका अथवा नायक |
| वीर | शत्रुसेना | शंख निर्घोष जयजयकार आदि | वीर पुरुष |
| करुण | मृतक व्यक्ति | शव-संस्कार आदि | शोकातुर व्यक्ति |
| अद्भुत | आश्चर्यजनक वस्तु, कौतुक | आश्चर्यजनक करिश्मे | जिज्ञासु व्यक्ति |
| हास्य | विदूषक आदि | विदूषक की चेष्टाएँ दूसरे व्यक्तियों की हँसी | हँसनेवाला व्यक्ति |
| भयानक | डरावनी वस्तु भीषण वस्तु | विकट शब्द, कोलाहल | भयातुर व्यक्ति |
| रौद्र | क्रोध उत्पन्न करनेवाला पात्र | उस पात्र की चेष्टाएँ | क्रोधातुर व्यक्ति |
| शान्त | संन्यासी, प्रकृति का शान्त रम्य रूप | भगवद्भजन साधुसंतों के उपदेश | भक्त या त्यागी |
| वीभत्स | सड़ी-गली चीज | दुर्गन्धादि | घृणा का अनुभव करनेवाला व्यक्ति |

एक ही वस्तु या दृश्य यदि एक रस का आलंबन है, तो दूसरे का आश्रय बन सकता है तथा एक ही वस्तु या दृश्य यदि एक व्यक्ति के लिए आलंबन है तो दूसरे व्यक्ति के लिए दूसरे रस का आलंबन भी हो सकता है।

जैसे—शत्रु-सेना यदि वीर व्यक्ति के लिए वीर रस का आलंबन है, तो कायर व्यक्ति के लिए भयानक रस का।[1]

**अनुभाव**—जिन शारीरिक चेष्टाओं से आश्रय के हृदय में उत्पन्न भाव या रस का परिचय पाठकों को मिलता है, वे अनुभाव कहलाते हैं। इस प्रकार

---

१ प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार नायिकाओं और नायकों के भेद इस प्रकार हैं—
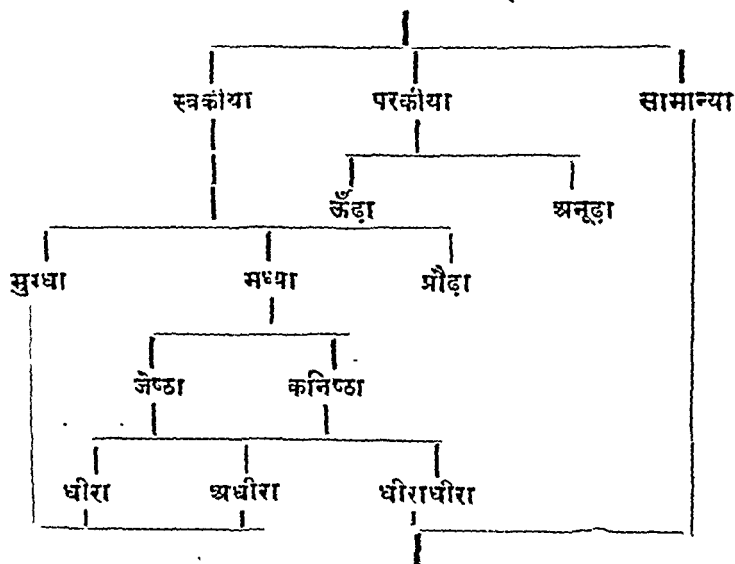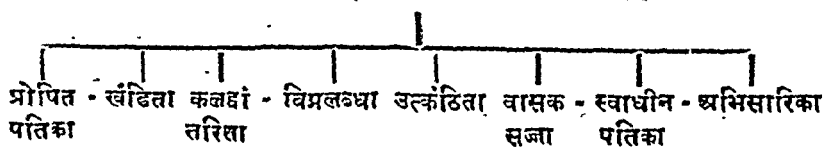
अनुभाव वे हैं जो भाव का अनुभव कराते हैं।[1] अनुभाव का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है, भाव के पीछे ( अनु ) आनेवाला। आश्रय के हृदय में भाव की उत्पत्ति के बाद ही वे अचेतन (Involuntary) शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं जिन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभाव तीन प्रकार के हैं।—कायिक, मानसिक और सात्विक। कविता में सात्विक भावों से उत्पन्न अनुभावों का सर्वाधिक महत्त्व है। ये आठ प्रकार के होते हैं :—(१) स्तम्भ (२) स्वेद (३) रोमांच (४) स्वर-भंग (५) वेपथु ( कंप ) (६) वैवर्ण्य (७) अश्रु (८) प्रलय।

संचारीभाव—वे हैं जो आश्रय के हृदय में समय-समय पर उत्पन्न होकर रसान्तरगत स्थायीभाव का पोषण करते हैं और अपना काम समाप्त कर विलीन हो जाते हैं। संचारीभाव विशिष्ट रसों के लिए नियत नहीं है। एक संचारीभाव एक या एक से अधिक रसों में प्रयुक्त हो सकता है और एक रस में एक से अधिक संचारीभाव भी आ सकते हैं। अतः इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। ये स्थायीभाव की भाँति रस परिपाक की अवस्था तक नहीं
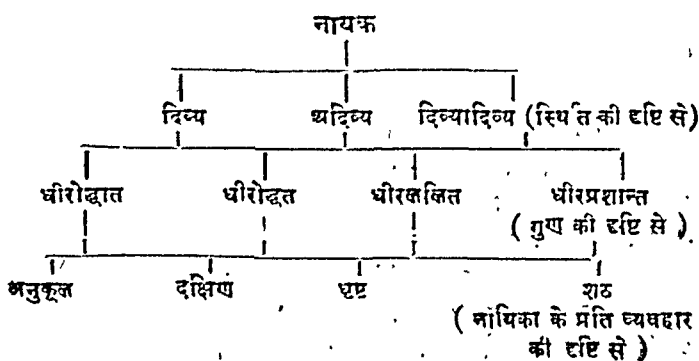
१ अनुभावयन्ति इति अनुभावा:।

ठहरते, बल्कि स्थायीभाव को पोषण देकर लुप्त हो जाते हैं। संचारी भाव ३३ हैं:—

(१) निर्वेद
(२) ग्लानि
(३) शंका
(४) असूया (ईर्ष्या)
(५) मद
(६) श्रम
(७) आलस्य
(८) दैन्य
(९) चिन्तन
(१०) मोह
(११) स्मृति
(१२) धृति
(१३) व्रीड़ा (लज्जा)
(१४) चपलता
(१५) हर्ष
(१६) आवेग
(१७) जड़ता
(१८) गर्व
(१९) विषाद
(२०) औत्सुक्य
(२१) निद्रा
(२२) अपस्मार्ग (मृगी)
(२३) सुप्त (स्वप्न)
(२४) विबोध (चैतन्य लाभ)
(२५) अमर्ष
(२६) अवहित्था (हर्ष आदि का छिपाना)
(२७) उग्रता
(२८) मति (विवेक)
(२९) व्याधि (मानसिक संताप)
(३०) उन्माद
(३१) मरण
(३२) त्रास
(३३) वितर्क (सन्देह)

कवि देव ने छल को चौतीसवाँ संचारीभाव माना है।

**रसानुभाव की प्रक्रिया**—पाठक, श्रोता या दर्शक काव्य-नाटकों के रस का आस्वादन किस प्रक्रिया से करते हैं इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन काव्य-शास्त्रकारों ने भरत मुनि के निम्नलिखित सूत्र में खोजने का प्रयत्न किया।

विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः। इस सूत्र की व्याख्या में पाठकों द्वारा रसास्वादन की प्रक्रिया खोजने का प्रयास भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्ताचार्य ने किया।

भट्ट लोलट के विचार से नाटक या काव्य के चरित्रों—शकुन्तला, दुष्यन्त या

राधाकृष्ण आदि—का आरोप नाटकीय पात्रों में—अभिनेताओं में दर्शक कर लेते हैं। अतः उन्हें नाटकीय पात्रों के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा शकुन्तला, दुष्यन्त आदि के दर्शन-जैसा रसानुभव होता है। इस सिद्धान्त को 'उपपत्तिवाद' कहते हैं।

इनके बाद होनेवाले आचार्य श्री शंकुक ने इस मत का खंडन किया और कहा कि नाटकीय पात्रों में शकुन्तला, दुष्यन्त आदि का आरोपमात्र कर देने से दर्शकों को रसानुभूति संभव नहीं। क्योंकि आरोप में भिन्नता का ज्ञान वर्तमान है। अतः दर्शक नाटकीय पात्रों में (अभिनेताओं में) शकुन्तला, दुष्यन्त आदि का आरोप नहीं करते वरन् अनुमान करते हैं—उन्हें स्थायी-भाव के विशिष्ट चमत्कार के कारण शकुन्तला, दुष्यन्त आदि ही मान लेते हैं। इस सिद्धान्त को 'अनुमितिवाद' कहते हैं।

इनके बाद होनेवाले आचार्य भट्टनायक ने इस मत का भी खंडन किया। इनके मत से आरोप या अनुमान से पाठकों या दर्शकों को रसानुभव संभव नहीं; क्योंकि रस की स्थिति इनमें न होकर नाट्य चरित्रों अथवा अभि-नेताओं में है। रसानुभव के लिए शब्द की तीन क्रियाएँ चाहिए—अभिधा, भावना और भोग। अभिधा से किसी कविता का अर्थ हम समझते हैं। भावनाशब्द की उस क्रिया का नाम है जिसके द्वारा शकुन्तला, दुष्यन्त आदि में स्थित रति आदि स्थायीभाव शकुन्तला, दुष्यन्त आदि का व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़ सर्वसाधारण के लिए आस्वादनीय बन जाते हैं। अर्थात् शकुन्तला, दुष्यन्त आदि के हृदयगत भाव साधारणीकृत होकर सार्वजनिक वस्तु बन जाते हैं। इस क्रिया को साधारणीकरण कहते हैं। अभिधा द्वारा कविता के अर्थ ग्रहण के पश्चात् जब उसका रस या भाव साधरणीकृत हो जाता है तो उसका अनुभव पाठक सहज ही में कर सकता है, वरन् यह कहना चाहिए कि पाठक उस साधारणीकृत रस या भाव का स्वयं भोग करता है। इस सिद्धान्त को युक्तिवाद कहते हैं।

इनके बाद आनेवाले आचार्य अभिनवगुप्त ने इस सिद्धान्त का आंशिक खंडन किया। जहाँ उन्होंने साधारणीकरण की क्रिया को स्वीकार किया वहाँ साधारणीकरण को शब्द का एक व्यापार मानकर व्यञ्जना-शक्ति

का विभावन-व्यापार माना। क्योंकि, शब्दोच्चारण मात्र से रसानुभूति नहीं होती। इनके विचारानुसार स्थायीभाव पाठकों के हृदय में पहले से ही वासना-रूप में ( संस्कार-रूप में ) वर्तमान रहते हैं। विभाव आदि द्वारा केवल इनका प्रकाशन होता है। शकुन्तला, दुष्यन्त आदि के प्रणय को देखकर या पढ़कर दर्शक या पाठक शकुन्तला, दुष्यन्त आदि के हृदय में स्थित प्रणय का अनुभव नहीं करता वरन् अपने हृदय में पहले से वर्तमान प्रणय का रसानुभव करता है। शकुन्तला, दुष्यन्त आदि के प्रणय-व्यापार देखकर कवि की कला के प्रभाव से साधारणीकृत रति-भाव स्वयं दर्शक के हृदय में भी उद्बुद्ध हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति रसानुभव के रूप में होती है। यह सिद्धान्त **अभिव्यक्तिवाद** कहलाता है। काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने भी इस सिद्धान्त को माना है। रसानुभव-प्रक्रिया के संबंध में प्राचीन परिपाटी के अनुसार यह सबसे परिष्कृत सिद्धान्त समझा जाता है।

# परिशिष्ट (ग)

## अलंकार

अलंकार के निम्नलिखित भेद हैं—
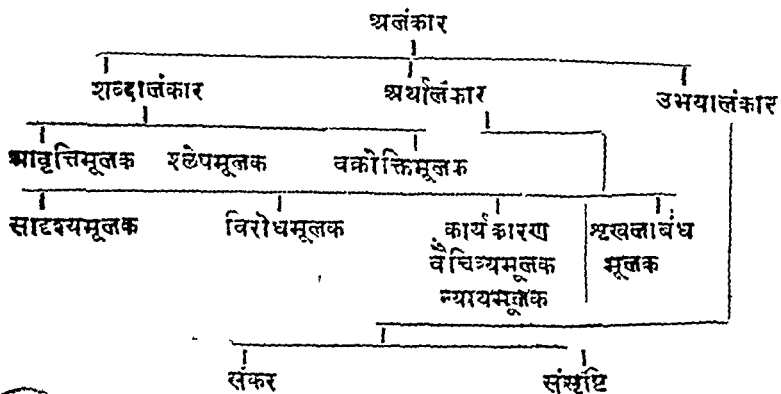
शब्दालंकार :—

( १ ) अनुप्रास - वर्णों की आवृत्ति व्यवस्थित रूप में होने से अनुप्रास अलंकार होता है।

(i छेकानुप्रास—जब एक या एक से अधिक वर्ण दो बार आयें तो छेकानुप्रास होता है, जैसे—

कंकण किंकिणि नूपुर धुनि धुनि।
कहत लखन सन राम हृदयगुनि॥

(ii) वृत्यनुप्रास—जब एक या एक से अधिक वर्ण तीन बार या इससे अधिक बार किसी पंक्ति में आयें तो वृत्यनुप्रास होता है। जैसे :—

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी।
प्रियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजुतिरीछे नयननि।
निज पति तिन्हहि कहेउ सिय सयननि॥

नोट—श्रुत्यानुप्रास और अंत्यानुप्रास भी अनुप्रास अलंकार के भेद हैं।

( २ ) लाटानुप्रास—जब शब्दों या पदों की आवृत्ति होती है तो लाटानुप्रास हुआ करता है। शब्द या पद दो बार आते हैं और दोनों बार एक ही अर्थ में आते हैं लेकिन तात्पर्य या अन्वय में भेद रहता है। जैसे—

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे।

यमक—जब एक शब्द दो या अधिक बार आये लेकिन उनके अर्थ में भिन्नता हो तो यमक-अलंकार होता है। जैसे :—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय
वहि खाये बौराय जग यहि पाये बौराय

श्लेप—जब एक शब्द का प्रयोग एक ही बार हो, लेकिन उससे दो या अधिक अर्थ निकलें और ये सभी अर्थ अभिधा द्वारा ग्रहीत तथा प्रसंग में अपेक्षित हों तो श्लेप-अलंकार होता है।

इसके दो भेद हैं—अभंग श्लेप और सभंगश्लेप। अभंगश्लेप में समस्त शब्द या पद से ही एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। जैसे :—

माया महा ठगिनि हम जानी
तिरगुण फाँस लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी

सभंग श्लेप में शब्द या पद को खंडित करके दो अर्थ निकाले जाते हैं। जैसे :—

बहुरि शक्र सम विनवउँ तोई
संतत सुरानीक हित होई

( सुरा + नीक = खल; सुर + अनीक = देवताओं की सेना )

वक्रोक्ति—का अर्थ है टेढ़ी बात। जहाँ टेढ़ी बात द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया जाय वहाँ वक्रोक्ति-अलंकार होता है। यह दो प्रकार का होता है—( १ ) श्लेषमूलक ( २ ) काकु वैचित्र्यमूलक।

श्लेषमूलक वक्रोक्ति-अलंकार वह है जहाँ वक्रोक्ति श्लेप पर आधारित रहे। जैसे :—

खोलो जू किवाँर तुम को हो ऐतीवार
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार में।
हों तो प्यारी 'माधव', तो कोकिला के माथे भाग,
'मोहन' हों प्यारी परो मंत्र अभिचार में
'नायक' हों नागरी तो हांको कहूँ टांड़ो जाय
हों तो घनश्याम, बरसो जू काहू खार में।

काकुवक्रोक्ति—जहाँ कण्ठ-ध्वनि या उच्चारण वैचित्र्य के कारण कोई अन्य ऐसा अर्थ ग्रहण किया जाय वहाँ काकुवक्रोक्ति-अलंकार होता है। जैसे—

फिर आनेहु यदि गये
दुसह शल्य नर वीर
पुनि न अकारण लखन के
कटु वचनन की पीर (!)

अर्थालंकार ( सादृश्यमूलक )—

( १ ) उपमा—जहाँ किसी वस्तु की समानता किसी धर्म-विशेष की दृष्टि से अन्य किसी वस्तु से दिखलाई जाय वहाँ उपमा-अलंकार होता है। उपमा के चार तत्त्व हैं—उपमेय, उपमान, समानधर्म और समानतावाचक पद। जब ये चारों तत्त्व वर्तमान रहते हैं तो पूर्णोपमा होती है और जब इनमें से एकाधिक तत्त्वों का अभाव रहता है तो लुप्तोपमा होती है। उपमेय को प्रस्तुत अथवा प्रधान वर्ण्य विषय कहते हैं और उपमान को अप्रस्तुत या गौण वस्तु कहते हैं। उदाहरण:—

पूर्णोपमा—जैसे—

| मुख | चाँद | के समान | सुन्दर है |
|---|---|---|---|
| उपमेय | उपमान | समानता वाचक पद | समान धर्म |

लुप्तोपमा —

मुख चाँद के समान है—( धर्मलुप्तोपमा )

चन्द्र-मुख—( समान-धर्म और समानतावाचक पद लुप्त है। )

चाँद के समान सुन्दर है—( उपमेय लुप्त )

( २ ) मालोपमा—जहाँ एक उपमेय के लिए अनेक उपमान प्रयुक्त हों वहाँ मालोपमा अलंकार होता है। जैसे—

इन्द्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं
पौन बारि-वाह पर शंभु रतिनाह पर,
त्यों सहस्त्राह पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दण्ड पर चीता मृगझुंड पर
'भूषण' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं,
तेज तिमिरअंश पर कान्ह जिमि कंस पर,
यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं।

( ३ ) रसनोपमा—जब बहुत-से उपमेय और बहुत-से उपमान इकट्ठे किये जायँ और उत्तरोत्तर उपमेय को क्रमशः उपमान बनाया जाय तो रसनोपमा अलंकार होता है। जैसे—

वचसी मधुरी मूरति मूरति सी कल कीर्त्ति
कीरति लौं सब जगत में छाय रही तव नीति

( ४ ) अनन्वय अलंकार—जब उपमेय को ही उसका उपमान माना जाय तो अनन्वय अलंकार होता है। जैसे—

हे सुखदायक प्रेमनिधे
जग यों तो भले और बुरे सबही हैं
दीन दयाल औ दीन प्रभो
तुम से तुमही हम से हमही हैं

---

उपमा, मालोपमा, रसनोपमा और अनन्वय—ये चारों उपमेय और उपमान के समानता के कथन पर आधारित सादृश्यमूलक अर्थालंकार हैं।

आरोपवाचक—

( ५ ) रूपक—जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है। मुख चाँद है। यहाँ मुख में चाँद का आरोप है। उपमा की तरह मुख और चाँद में समानता नहीं। रूपक के तीन प्रधान भेद हैं—सांग रूपक, निरंग रूपक और परम्परित रूपक।

जहाँ अवयवों के सहित उपमेय में उपमान का आरोप हो वहाँ सांग रूपक होता है। जैसे—

रणित भृंग घंटावली, झरित दान मधुनीर
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर-कुंज समीर

निरंग-रूपक—बिना अवयवों के जब केवल उपमेय में उपमान आरोप मात्र हो तो वहाँ निरंग रूपक अलंकार होता है। जैसे—मुख चाँद

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है वहाँ परम्परित रूपक अलंकार होता है। जैसे—

सखि नील नभःसर में उतरा
यह हंस अहो तरता तरता
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता चरता
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी
चलता उनको धरता धरता
गड़ जाय न कंटक भूतल के
कर डाल रहा डरता डरता

( ६ ) अपह्नुति अलंकार—जहाँ उपमेय का निषेध करके उसमें उपमान का आरोप किया जाय वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। रूपक और इसमें यही अंतर है कि रूपक में केवल आरोपमात्र होता है लेकिन अपह्नुति में उपमान के आरोप के साथ-साथ उपमेय का निषेध।

जैसे—यह मुख नहीं चाँद है।

अपह्नुति के छः भेद हैं—

हेत्वपह्नुति—जहाँ उपमेय के निषेध के साथ-साथ इसका कारण भी दिया जाय वहाँ हेत्वपह्नुति अलंकार होता है। जैसे :—

( १ ) ये नहीं फूल गुलाब के दाहत हिय जू हमार
बिन घनश्याम आराम में, लागी दुसह दवार
( २ ) किंसुक-सुमन-समूह सखि दाहक कबहुँ न होत
यह आलि, दीपित दिसनि दावानल की जोत

शुद्धापह्नुति—जहाँ उपमेय का निषेध हो और उसपर उपमान का आरोप, लेकिन इसका कोई कारण नहीं दिया जाय, वहाँ शुद्धापह्नुति अलंकार होता है। जैसे—

( १ ) यह मुख नहीं चाँद है।
( २ ) पहिरे स्याम न पीतपट, घन में बिज्जु विलास

पर्यस्तापह्नुति—जहाँ निषेधपूर्वक एक धर्म का दूसरे में आरोप किया जाय वहाँ पर्यस्तापह्नुति होता है। सत्य का निषेध करके असत्य में सत्य का आरोप। जैसे—

कालकूट विष नहिं, विष है केवल इन्दिरा
हर जागत छकि जाहिं, वा संग हरि निन्दहीं तनय।

भ्रान्तापह्नुति—जहाँ चमत्कार पूर्ण ढंग से किसी के भ्रम को निवारण करते हुए निषेध किया जाय वहाँ भ्रान्तापह्नुति अलंकार है। भ्रम दूर करने के लिए असत्यज्ञान का निषेध करके सत्य की स्थापना की जाती है। जैसे—

(१) वेगि बुझावहु चरत वन, विरहिन कहेउ पुकार
सखिन कहेउ किंसुक कुसुम नाहिन ये अंगार

(२) चन्द्र है न, सिर तिलक यह, व्याल न मुकता हार
भसम न, तन चन्दन लग्यो, मार ! न तू मुहि मार

छेकापह्नुति—जहाँ पहले कही हुई बात को चतुरतापूर्वक छिपाया जाय और अपनी कही हुई बात का अर्थ बदल दिया जाय वहाँ छेकापह्नुति अलंकार होता है। जैसे—

(१) रहि न सकत कोउ अपतिता सखि पावस ऋतु माहिं
भई कहा उत्कंठिता, नहिं पथ फिसलत पाँव

(२) छत्ती तोड़ कर घर में आया अर्तन बर्तन सब सरकाया
खा गया पी गया दे गया बुत्ता क्या सखि साजन, ना सखि कुत्ता

कैतवापह्नुति—इसमें उपमेय का निषेध मिस, व्याज आदि शब्दों द्वारा होता है निषेधवाचक शब्दों द्वारा नहीं। जैसे—

(१) (चाँद को देखकर कोई कहे) यह चोर है जो पकड़े जाने पर कलंक के बहाने मुख में कालिमा लगाकर घूम रहा है। 'मुख में कलंक मिसि कालिमा लगाए है।'

(५) उत्प्रेक्षा—जहाँ उपमान में उपमेय की संभावना बतलायी जाय

(९) भ्रम-अलंकार—जहाँ सादृश्य के आधार पर उपमान में उपमेय का भ्रम हो जाय वहाँ भ्रम-अलंकार होता है। जैसे—

उजियारी मुख इन्दु की, परी उरोजनि आनि।
कहा अंगोछति मुग्ध तिय; पुनि-पुनि चन्दन जानि
पुष्प-राशि समान उसकी देख कोमल कान्ति
भूप को होने लगी जंगम लता की भ्रान्ति
क्या मनोमिष से उन्हीं के जानकर अरविन्द
घूमता था वरवदन पर एक मुग्ध मिलिन्द

( १० ) सन्देह-अलंकार—जहाँ उपमेय को देखकर उसमें उपमान का सन्देह हो और इसका आधार सादृश्य हो वहाँ संदेह-अलंकार होता है। जैसे—

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाये
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज शोभा
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल-लोभा

यह काया है या शेष उसी की छाया
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया

(११) अतिशयोक्ति—इस अलंकार में लोक-मर्यादा को उल्लंघन करने-वाली उक्ति होती है। इसके पाँच भेद होते हैं:—

रूपकातिशयोक्ति—जहाँ उपमेय का कथन न हो और उपमान द्वारा ही उसकी व्यञ्जना हो वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है। रूपक अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों का शब्द द्वारा कथन होता है; लेकिन रूपकातिशयोक्ति में उपमेय का शब्द द्वारा कथन नहीं होता है। जैसे—

( मुख को देखकर ) चाँद है।

अथवा—

है बिखेर देती वसुन्धरा मोती सब के सोने पर
रवि बटोर लेता है उसको सदा सवेरा होने पर

और विरामदायिनी अपनी संध्या को दे जाता है
शून्य श्याम तन जिससे उसका नया रूप झलकाता है

भेदकातिशयोक्ति—इस अलंकार में उपमान और उपमेय में अभेद होने-पर भी भेद का कथन किया जाता है। जैसे—

अनियारे दीरघ नयन, कितिन युवती समान।
वह चितवन औरें कछु, जिहिं बस होत सुजान॥

रूपकातिशयोक्ति और इसमें यही अन्तर है कि रूपकातिशयोक्ति में उपमेय और उपमान में भेद रहने पर भी अभेद का कथन होता है। लेकिन भेदकातिशयोक्ति में अभेद रहने पर भी भेद का कथन होता है।

सम्बन्धातिशयोक्ति—उपमेय और उपमान में सम्बन्ध न होने पर भी जहाँ सम्बन्ध की कल्पना की जाय वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति होती है। जैसे—

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं वर्पित हुए
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए
दो पद्मशुण्डो में लिये दो शुण्डवाला गज कहीं
मर्दन करें उनको परस्पर तो मिले समता वही

कारणातिशयोक्ति—जहाँ कार्य और कारण के परस्पर क्रम में विपर्यय की कल्पना की जाय वहाँ कारणातिशयोक्ति होती है। जैसे—

(१) उठेउ संग गज कर कमल, चक्र चक्रधर हाथ।
कर ते चक्र रु नक्र सिर, धरते विलग्यौ साथ॥
(२) लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नृत जात।
आँसू जिमि ढारनि लगे, पीरे पीरे पात॥

(१२) उल्लेख-अलंकार-एक वस्तु का ज्ञाताओं के भेद से या विषय भेद से अनेक प्रकार से उल्लेख किया जाय तो वहाँ उल्लेख-अलंकार होता है। जैसे—

(१) कविजन कल्पद्रुम कहै, ज्ञानी ज्ञान समुद्र।
दुर्जन के गण कहत हैं, भाव सिंह रन-रुद्र॥
(२) मन मोहन सो मोह कर, तू घनश्याम निहारी।
कुंज बिहारी सो विहर, गिरधारी उरधारी॥

## अर्थालंकार ( विरोधमूलक )

(१३) **विरोधाभास**—वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध का आभास-सा प्रतीत हो तो विरोधाभास-अलंकार होता है। जैसे—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहीं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय

(१४) **असंगति-अलंकार**—जहाँ कार्य और कारण का सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध या असंगत ( अनुचित ) हो वहाँ असंगति-अलंकार होता है।

प्रथम असंगति—जब कार्य और कारण अलग-अलग स्थानों पर प्रतीत हों तो प्रथम असंगति-अलंकार होता है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति
परत गाँठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीति

द्वितीय असंगति—जो कार्य जिस स्थान पर किया जाना चाहिए उस स्थान के बदले दूसरे स्थान पर उसका वर्णन किया जाय तो द्वितीय असंगति-अलंकार होता है। जैसे—

प्रिय नयनन के राग कौं, भूषण सेज बनाय।
लखैं बिहारी छवि सुनो, सौति दृगनि अधिकाय

तीसरा असंगति—जो कार्य करने को प्रवृत्त हो यदि उसके विरुद्ध कार्य किया जाय तो तृतीय असंगति-अलंकार होता है। जैसे—

उदित भयो है जलद तू, जग को जीवन दानि।
मेरो जीवन लेत तै, कौन बैर मन आनि॥

(१५) **व्याज स्तुति और व्याज निन्दा**—यदि निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति और स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा की अभिव्यक्ति हो तो क्रमशः व्याज स्तुति और व्याज निन्दा अलंकार होते हैं। जैसे—

(१) सदा नहैं ते दृगन को, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहुँ मुकुट बनमाल॥

# HALF YEARLY EXAMINATION 1968

## *ENGLISH*

## Class VIII

Time 3 Hours — Max. Marks. 70

1. Translate into Hindi (Any five) — 15

    (1) He come to the tree and began his work.

    (2) The stranger then asked him. "Why don't you jump in and get it out ?"

मोहन-पानिप केसर से रस रंग की राधे तरंगिनि ऐसी
'दास' दुहूँ की लगालगी में उपजी यह दारुण आग अनैसी

(२) सीतल चन्दन चंदहू लगे जरावन गात

षष्ठ विभावना—जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति हो वहाँ षष्ठ विभावना-अलंकार होता है। जैसे—

अचरज भूषण मन बढ्यौ, श्री शिवराज खुमान।
तव कृपाण ध्रुव धूम तो, भयो प्रताप कृसानु॥

(१७) विशेषोक्ति-अलंकार—जहाँ कारण के रहने पर भी कार्य उत्पन्न न हो तो वहाँ विशेषोक्ति-अलंकार होता है। जैसे—

(१) नाभि सरोवर औ त्रिवली की तरंगिन पैरति ही दिन राति है
बूड़ी रहै तन पानिप ही में नहीं वन मालहु ते बिलगाति है
'दासजू' प्यासी नई अँखियाँ घनश्याम विलोकत ही अकुलाति है
पीवो करै अधरामृत हू को तऊ इनकी सखि! प्यास न जाती है

(२) नीर-भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाई।

(१८) कारणमाला-अलंकार—जिसमें पूर्वकथित वस्तु आगे आनेवाली वस्तु का कारण बतलायी जाय वहाँ कारणमाला-अलंकार होता है। जैसे—

सुजस दान, अरु दान धन, धन उपजै किरपान।
सो जग में जाहिर करि, सरजा सिवा खुमान।

अन्य अर्थालंकार —

(१९) अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य उक्ति का विशेष उक्ति से अथवा विशेष उक्ति का सामान्य उक्ति से समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास-अलंकार होता है। जैसे —

रहिमन नीचि कुसंग सों, लगत कलंक न काहि।
दुध कलारी कर लखे का मद जा नाहिं॥

(२०) उदाहरण-अलंकार—जहाँ सामान्य उक्ति की व्याख्या के लिए कोई

उदाहरण दिया जाय और उसमें इव, यथा, जैसे आदि शब्दों का प्रयोग हो तो वहाँ उदाहरण-अलंकार होता है। जैसे—

विपदागत हूँ सम गुणी करत सदा उपकार।
ज्यों मूर्च्छित औ मृतक हूँ पारद है गुणकार॥

(२१) दृष्टान्त-अलंकार—जब दो उक्तियाँ हों और दोनों के साधारणधर्मों का समान महत्त्व हो तो वहाँ दृष्टान्त-अलंकार होता है। जैसे—

शिव औरंगहि जिति सकै और न राजा राव।
हत्थी मत्थ पर सिंग बिनु आन न घाले घाव॥

(२२) समासोक्ति-अलंकार—इस अलंकार में दो अर्थ निकलते हैं। एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत। जब प्रस्तुत अर्थ का वर्णन हो और अप्रस्तुत की व्यञ्जना तो वहाँ समासोक्ति-अलंकार होता है। जैसे—

चन्द्रबिम्ब पूरन भये क्रूर केतु हठ दाप।
बलसों करि हैं ग्रास यही जेहि बुधरक्षक आप।

(२३) अप्रस्तुत प्रसंशा (अन्योक्ति-अलंकार)—अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा जहाँ प्रस्तुत का बोध हो। जैसे—

माली आवति देख करि कलियाँ करी पुकारी।
फूली फूली चुन लियो कल्ह हमारी बारी॥

(२४) तद्गुण-अलंकार—जब एक वस्तु का रूप रंग दूसरी वस्तु में अस्थायी रूप से, वस्तु के सामीप्य के कारण प्रतिभापित हो तो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है। जैसे—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट ज्योति;
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष सम होति॥

(२७) काव्यलिंग-अलंकार—इसमें जिस बात को सिद्ध करना अपेक्षित होता उसे सिद्ध करने के लिए वाक्य के अथवा पद के अर्थ में उसका कारण भी दिया जाता है। जैसे—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागर सोय।
जा तन की झाँई परे श्याम हरित दुति होय।

उभयालंकार—

**संसृष्टि**—जहाँ कई अलंकारों का एक स्थान पर समाहार होता है और वे अलंकार एक दूसरे से घुल-मिल नहीं जाते वरन् अपना पृथक ( स्वतंत्र ) अस्तित्व बनाये रहते हैं तो वहाँ संसृष्टि-अलंकार होता है। इस अलंकार में एक अलंकार का अलंकारत्व दूसरे पर निर्भर नहीं होता। दोनों तिल और चावलों की तरह मिले दिखाई दें। जैसे :—

> खंजन मधुकर, मीन, मृग, ये सब एक समीप।
> घूँघट पट में देखिए पाले मदन महीप॥
>
> ( वृत्यानुप्रास, रूपकातिशयोक्ति, रूपक-अलंकार )

**संकर**—इस अलंकार में कई अलंकार आपस में इस प्रकार मिले रहते हैं कि एक का अलंकारत्व दूसरे पर आधारित हो जाता है। दोनों दूध और पानी की तरह मिले दिखाई देते हैं। जैसे—

> पवन विकम्पित मही कहाँ के तले काँपती छाया
> चन्द्र सिंह कृत तिमिर गजों की मानो खंडित काया
>
> ( परम्परित-रूपक, जो उत्प्रेक्षा का अंगभूत है )

# परिशिष्ट ( घ )

## छन्द

हिन्दी में छन्द तीन प्रकार के प्रयुक्त होते हैं—( क ) संस्कृत के वार्णिक वृत्त ( ख ) मात्रिक छन्द ( ग ) स्वर छन्द।

संस्कृत के वार्णिक वृत्तों में पंक्तियों में वर्णों और मात्राओं दोनों की निश्चित एवं व्यवस्थित योजना होती है। लेकिन मात्रिक छन्द में वर्णों की कोई निश्चित योजना नहीं होती, केवल मात्राओं की ही व्यवस्था रहती

है। मात्रिक छन्द में मात्राओं का कोई निश्चित क्रम नहीं होता लेकिन वार्णिक वृत्त में प्रत्येक पंक्ति में मात्राएँ उसी निश्चित क्रम से आती हैं। जैसे :—

वार्णिक वृत्त—दिवस का अवसान समीप था ( १६ )<br>
III ऽ IIऽI IऽI ऽ ( १२ )<br>
गगन था कुछ लोहित हो चला ( १६ )<br>
III ऽ II ऽII ऽ Iऽ ( १२ )<br>
तरु शिखा पर थी अब राजती ( १६ )<br>
II Iऽ II ऽ II ऽIऽ ( १२ )<br>
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ( १६ )<br>
IIIऽ II ऽII ऽ Iऽ ( १२ )

मात्रिक छन्द—कवि अनूठे कलाम के बल से ( १७ )<br>
II Iऽऽ IऽI ऽ II ऽ ( १२ )<br>
हैं बड़े ही कमाल कर देते ( १७ )<br>
ऽ Iऽ ऽ IऽI II ऽऽ ( ११ )<br>
बेचने के लिए कलेजे को ( १७ )<br>
ऽIऽ ऽ Iऽ Iऽऽ ऽ ( १० )<br>
हैं कलेजा निकाल कर देते ( १७ )<br>
ऽ Iऽऽ IऽI II ऽऽ ( ११ )

ऊपर के उदाहरणों से हम देखते हैं कि वार्णिक के वृत्त की पंक्तियों में मात्राओं और वर्णों दोनों की संख्या बराबर होती है और इसके अतिरिक्त मात्राओं का एक निश्चित क्रम भी होता है; लेकिन मात्रिक छन्द में न तो मात्राएँ प्रत्येक पंक्ति में एक ही क्रम से आती हैं और न प्रत्येक पंक्ति में वर्णों की संख्या बराबर होती है। मात्रिक छन्द में प्रत्येक पंक्ति में केवल मात्राओं की संख्या बराबर होती है अथवा मात्राओं की संख्या की एक निश्चित व्यवस्था होती है। वार्णिक वृत्तों में वर्णों और मात्राओं की क्रमिक व्यवस्था के लिए गणों का विचार होता है।

**गण**—तीन वर्णों के समूह को गण कहते हैं। वार्णिक वृत्त में यह एक इकाई है। वर्णों के लघु और गुरु होने के अनुसार गण आठ प्रकार के हो सकते हैं।

| गण का नाम | स्वरूप | उदाहरण |
|---|---|---|
| यगण | ISS | पताका |
| मगण | SSS | मागन्धी |
| तगण | SSI | दावात |
| रगण | SIS | भारती |
| जगण | ISI | सरोज |
| भगण | SII | भारत |
| नगण | III | कमल |
| सगण | IIS | सरला |

गणों को आसानी से पहचान लेने के लिए निम्नलिखित सूत्र ज्ञातव्य हैं—

य मा ता रा ज भा न स ल गा:
I S S S I S I I I, S

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| जैसे | यगण | की | पहचान | है—यमाता | =ISS |
| इसी प्रकार | मगण | ,, | ,, | ,,—मातारा | =SSS |
| ,, ,, | तगण | ,, | ,, | ,,—ताराज | =SSI |
| ,, ,, | रगण | ,, | ,, | ,,—राजभा | =SIS |
| ,, ,, | जगण | ,, | ,, | ,,—जभान | =ISI |
| ,, ,, | भगण | ,, | ,, | ,,—भानस | =SII |
| ,, ,, | नगण | ,, | ,, | ,,—नसल | =III |
| ,, ,, | सगण | ,, | ,, | ,,—सलगा | =IIS |

विविध गणों के विविध देवताओं, फलों, शुभाशुभ आदि के विचार अनावश्यक होने के कारण यहाँ नहीं दिए जा रहे हैं।

स्वर छन्द में न तो प्रत्येक पंक्ति में मात्राओं या वर्णों की संख्या बराबर होती है, न मात्राओं का कोई विशिष्ट क्रम ही होता है और न कोई मात्रिक या वार्णिक व्यवस्था ही। स्वर छन्द में केवल नाद और ताल के आधार पर पंक्तियाँ गतिशील होती हैं और एक विशिष्ट संगीत का सृजन होता है। इस प्रकार स्वर छन्द की टेक्निक अन्य प्रकार के छन्दों से सर्वथा भिन्न है।

## वार्णिक वृत्त

अनुष्टुप—इसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं। इसके छन्द के चारो चरणों में पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा गुरु होता है। द्वितीय या चतुर्थ चरण में सप्तम वर्ण भी लघु होता है। उदाहरण—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

भुजंगी—इस छन्द में के प्रत्येक चरण में तीन यगण के पश्चात् एक लघु और एक गुरु होता है। सब मिलाकर ग्यारह अक्षर हुए।

बनाया गया कोयला रत्न है
मरे या जिए हो रहा यत्न है
कलें काम देने लगी हैं सभी
करेगा न विज्ञान क्या-क्या अभी

इन्द्रवज्रा—प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु रहते हैं। (११ अक्षर)

आपत्ति में, संकट में, दुखों में
त्योंही सुखानन्द समुत्सवों में
की नित्य थी एक समान सेवा
छायेव हो भ्रातृपदानुरागी

उपेन्द्रवज्रा—इन्द्रवज्रा में प्रत्येक चरण के पहले अक्षर को ह्रस्व कर देने

से उपेन्द्रवज्रा हो जाता है। इसमें प्रत्येक चरण में दो जगण, तगण और दो गुरु होते हैं। ( ११ अक्षर )

बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै,
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै।
विना विचारे यदि काम होगा,
कभी न अच्छा परिणाम होगा॥

द्रुतविलम्बित—इस छन्द की परिभाषा है—द्रुतविलम्बित माह, न भठ भरउ अर्थात द्रुतविलम्बित में प्रत्येक चरण में एक नगण, दो भगण और एक रगण क्रमशः आते हैं। ( १२ अक्षर ) जैसे—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु-शिखा पर थी अब राजती
कुमुदिनी—कुल—वल्लभ की प्रभा

वंशस्थ—इसके प्रत्येक चरण में एक जगण, एक तगण, एक जगण और एक रगण की योजना होती है। ( १२ अक्षर ) जैसे—

जहाँ लगा जो जिस कार्य बीच था
उसे वहीं ही वह छोड़ दौड़ता
समीप आया रथ के प्रमत्त सा
विलोकने को घनश्याम माधुरी

भुजंगप्रयात—इसके प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं। ( १२ अक्षर ) जैसे—

( १ ) नमामी शमीशान निर्वाण रूपं।
विभो व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्॥
अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं।
निराकाशमाकाश वासं भजेहम्॥

( ii ) अथवा चार बार 'भुजंगप्रयात' कह देने से भी भुजंगप्रयात छन्द बन जाता है। जैसे—

भुजंग प्रयातं, भुजंग प्रयातं, भुजंग प्रयातं, भुजंग प्रयातं।

**तोटक**—इसके प्रत्येक चरण में चार सगण होते हैं। ( १२ अक्षर )
उदाहरण—

जयराम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक शायक चाप धरे ॥
भव वारण दारण सिंह प्रभो। गुण सागर नागर नाथ विभो ॥
जै जै रघुनाथ धरे धनु हाथ। विराजत सानुज जानकी साथ ॥

**लक्ष्मीधर**—इसके प्रत्येक चरण में चार रगण होते हैं ( १२ अक्षर )

अच्युतं केशवं रामनारायणं।
कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरि ॥
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं।
जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥

**वसंततिलका**—इसके प्रत्येक चरण में एक तगण, एक भगण, दो जगण और दो गुरु होते हैं। ( १४ अक्षर ) जैसे—

( i ) बातें बड़ी मधुर औ अति ही मनोज्ञा।
नाना मनोरम रहस्यमयी अनूठी।
जो है प्रसूत भवदीय मुखाब्ज द्वारा
है वांछनीय वह सर्व सुकेच्छुओं को

अथवा

( ii ) अत्युज्ज्वला पहन तारक-मुक्त-माला।
दिव्यांवरा बन-अलौकिक-कौमुदी से ॥
भावों-भरी परम सुग्धकरी हुई थी।
राका-कला कर मुखी रजनी-पुरन्ध्री ॥

**मालिनी**—इसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और दो यगण

होते हैं। और आठ वर्णों के अन्त में यति (विश्राम) होती है। (१५ अक्षर) जैसे—

अभिनव कलिका से, पुष्प से, पंकजों से
रच अनुपम माला भव्य आभूषणों की
वह निज कर से थे बालकों को पिन्हाते
बहु सुखित बनाते यों सखावृन्द को थे

मन्दाक्रान्ता—इसके प्रत्येक चरण में एक मगण, एक भगण, एक नगण, दो तगण और दो गुरु रहते हैं। चार और छः वर्णों के बाद यति होती है। जैसे—

विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना
रक्षा-पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा
भावों सिक्ता परम-प्रभु की भक्ति-सर्वोत्तमा है ॥

शिखरिणी—इसके प्रत्येक चरण में एक यगण, एक मगण, एक नगण, एक सगण और एक भगण तथा एक लघु और एक गुरु होता है। छः और ग्यारह अक्षरों के अन्त में विश्राम होता है। (१७ अक्षर) जैसे—

अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुरस से
बना जो देती थी बहु गुणमयी भू विपिन को
निराले फूलों की विविध दलवाली अनुपमा
जड़ी-बूटी नाना बहु फलवती थी विलसती

शार्दूलविक्रीड़ित—इसके प्रत्येक चरण में एक मगण, एक सगण एक जगण, एक सगण, दो तगण तथा एक गुरु आते हैं। बारह और सात वर्णों के अन्त में यति होती है। (१९ अक्षर होते हैं)

उदाहरण—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली

शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य लीलामयी
श्रीराधा-मृदुभाषिणी मृग-दृगी-माधुर्य्य-सन्मूर्त्ति थी ॥

**स्रग्धरा**—इसके प्रत्येक चरण में एक मगण, एक रगण, एक भगण, एक नगण और तीन यगण होते हैं। प्रत्येक सात वर्ण के अन्त में यति होती है। ( २१ अक्षर )

प्राणाघातान्निवृत्ति, परधन हरणे संयमः सत्यवाक्यम् ॥
काले शक्त्या प्रदानं युवति जनकथा, मूक भावः परेषाम् ॥
तृष्णा स्रोतो विभङ्गो, गुरुपुच विनयः सर्व युतानुकम्पा ॥
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनु पहत विधिः श्रेय सामेष पन्थाः ॥

**सवैया**—इसके प्रत्येक चरण में २२ से लेकर २६ तक अक्षर होते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसके बीच के प्रायः सभी गण एक समान रहते हैं। इसके निम्न लिखित भेद हैं।

( i ) मालती सवैया—इसे मदिरा सवैया भी कहते हैं। इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और एक गुरु होता है। सब मिलाकर २२ अक्षर होते हैं।

उदाहरण—

वेगी कसो तन रावण सों अब वेगि चढ़ाऊँ सरासन को
बात बनाई बनाई कहा कर छाँड़िद आसन वासन को
जानत है किधौं जानत नाहिं न तू अपने मद नासन को
ऐ सहि कैसे मनोरथ पूजत पूजे बिना नृप शासन को

( ii ) मतगयन्द या मालती सवैया—इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और दो गुरु होते हैं। ( २३ अक्षर )

उदाहरण—

भासत गंग न तो सम आन
कहूँ जग में मम पाप हरैया ॥
बैठे रहे मनुदेव सबै,
तबि तो पर तारन भारहि मैया

या कलि में इक तूही सदा,
जन की भव पार लगावत नैया
हेतू इकै हरि अम्ब अरी
अघमत गयंदहि नास करैया ॥

( iii ) दुर्मिल सवैया—इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण होते हैं। ( २४ अक्षर )

उदाहरण—

सखि नील नभःसर में उतरा यह हंस अहा ! तरता तरता
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरता चरता
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी, चलता उनको धरता धरता,
गड़ जाय न कंटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता।

( iv ) किरीट सवैया—इस छन्द में प्रत्येक चरण में आठ भगण होते हैं। ( २४ अक्षर )

उदाहरण—

मानस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन,
जौ पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन,
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन,
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।

( v ) सुन्दरी सवैया—इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण और एक गुरु होता है। ( २५ अक्षर ) जैसे—

मुख पंकज कंज विलोचन मंजु मनोज सरासन सी बनि भौंहैं।
कमनीय कलेवर कोमल स्यामल गौर किशोर जटा सिर सोहैं ॥
तुलसी कटि तून धरे धनुबाण अचानक दृष्टि परी तिरछौहैं।
केहि भाँति कहौं सजनी तोहि सों मृदु मूरति द्वै निवसी मन मोहैं ॥

( vi ) सुख सवैया—इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण और दो लघु रहते हैं। ( २६ अक्षर ) जैसे—

सब बात सहैं कड़वी न कहैं कछु मानस में अरु मेश न लावत
पर को अपवाद विवाद वृथा हठ रंचक हूँ सपने नहीं भावत
सुनि कै अपनौं गुणगान रहैं, चुप दोष छिपा सबके गुन गावत
जिनमें गुण ये सब हों भरपूर वही नर साधु महान कहावत ॥

कवित्त—इसमें मात्राओं के क्रम का नियंत्रण नहीं होने से गणों का विधान नहीं है। केवल वर्णों की संख्या प्रत्येक चरण में बराबर होती है। अतः कवित्त लिखना अपेक्षाकृत अधिक सरल है। इसके तीन भेद हैं :—

( i ) मनहरण कवित्त—इसके प्रत्येक चरण ३१ अक्षर होते हैं। प्रथम सोलह अक्षरों पर विराम होता है। अन्तिम वर्ण गुरु होता है। जैसे—
इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाडव सुअम्भ पर, रावण सुदम्भ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर, त्यों सहस्रबाह पर, रामद्विजराज हैं ॥
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर, भूषण वितुंड पर, जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंश पर,कान्ह जिमि कंस पर,यों मलिच्छ वंश पर सेर शिवराज हैं ॥

(ii) रूपघनाक्षरी—इस कवित्त में ३२ अक्षर होते हैं। प्रत्येक सोलह अक्षरों पर विराम होता है। अन्त में लघु अक्षर होना चाहिए। जैसे :—

भूरी हरी घास आसपास, फूली सरसों है
पीली-पीली बिन्दियों का चारो ओर प्रसार है
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे
एक रंग मिला चला गया पति पारावार
गढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से
धुँधली-सी नीली नभ माला उठी धुआँधार

(iii) देवघनाक्षरी—इसके प्रत्येक चरण में ३२ अक्षर होते हैं। प्रत्येक आठवें अक्षर पर यति होती है। अन्तिम तीन वर्ण लघु होते हैं। जैसे :—

उमड़े हैं घन-के घुमण्ड घमासान घोर,
चपला चपल पुनि जात है फरकि फरकि।
इन्द्र के धनुष राजे भेक बाजने से बाजे,
बकहु की पाँति उठी चलि है खरकि खरकि।
कवि अम्बादत्त शोभा पावस की पूरी लसी,
बोलत है मोर अति आनन्द लरकि लरकि।
धरकि धरकि उठी छाती विरहीजन की,
नदीन की धार धाई चलि है ठरकि ठरकि।

इसके अतिरिक्त मनमोहन, हरि, सुपथ, शालिनी या बासर, इन्द्रवंशा और मोतीदाम ये छः छन्द भी वार्णिक वृत्त में अपना स्थान रखते हैं, पर यहाँ पर इनका उल्लेख अनावश्यक है।

## मात्रिक छन्द

यह चार प्रकार का होता है—सम, विषम, अर्द्ध सम और मिश्रित।
सम में चारों चरण बराबर होते हैं। जिसमें पहले और तीसरे, दूसरे और चौथे पद बराबर हों वे अर्द्धसम और जिनके चारों पद भिन्न-भिन्न हों वे विषम कहलाते हैं।

## सम वृत्त

तोमर—इसके प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ होती हैं, परन्तु अन्त में एक गुरु और एक लघु वर्ण होते हैं। जैसे :—

चहुँ भाग बाग तड़ाग, अब देखिए बड़ भाग
फल फूल सो संयुक्त, अलि यों रमन जनु मुक्त

उल्लाला—इसके प्रत्येक चरण में तेरह मात्राएँ होती हैं। जैसे :—

अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, क्यों आलस में हो पड़े।
मेरे कर को पकड़ कर सत्वर हो आओ खड़े॥

**जयकरी**—इसके प्रत्येक पंक्ति में १५ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक गुरु के पश्चात् एक लघु वर्ण आता है। जैसे—

पूरब पश्चिम दिशि अवदात
नभ में कछु कालिमा लखात
सो क्रम सो बढ़ि ओज बढ़ाय
लीन्हेसि व्योम मण्डलहिं छाय

**चौपाई**—इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, लेकिन अन्त में गुरु होता है। इसके अन्त में जगण या तगण नहीं होना चाहिए। जैसे :—

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे॥
सहज स्वभाव सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥

**पद्धरी**—इसमें १६ मात्राएँ होती हैं, पर अन्त में तगण या नगण अवश्य होता है। जैसे :—

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार दिव्य गौरव विराट!
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल

**सुमेरु**—इसमें प्रत्येक चरण में १९ मात्राएँ होती हैं। पर अन्त में यगण का होना आवश्यक है। जैसे :—

अरे तू पेट पापी जो न होता
तो लम्बी तानकर मैं खूब सोता
नहीं निज हाथ से निज मान खोता
नहीं दो रोटियों के हेतु रोता

(इस उदाहरण में 'तो' का प्रयोग ह्रस्व में हुआ है।)

**कुण्डल**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ होनी चाहिए।

आरम्भ से १२ या १० मात्राओं पर यति होती है और अन्त में दो गुरु होते हैं। जैसे :—

सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई
विहँसत मुख मन्द-मन्द सुन्दर सुखदाई
कीरति ब्रह्मण्ड खंड तीन लोक छाई
हरखि निरखि तुलसिदास चरननि रज पाई

लावनी—इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ होती हैं। आरंभ से दूसरी तथा बारहवी मात्रा के पश्चात् यति होती है। जैसे :—

मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ
अपने जीवन में ज्वार लिये फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिसको छूकर
उस हृतंत्री के तार लिये फिरता हूँ।

अथवा—

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया
अयि राजहंसि तू तरस-तरस क्यों रोती
यदि सूक्ति वंचिता कहीं मैथिली होती
तो श्यामल तनु के श्रमज विन्दुमय मोती
निज व्यजन पक्ष से तू अकोर सुघ खोती
जिन पर मानस ने पद्म रूप मुँह बाया
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया

रोला—इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ और आरम्भ से ११ या १३ मात्राओं के पश्चात् यति होती है। जैसे :—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन!
जब विपरण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!
संग-सौध में हो श्रृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित मन!

**गीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक लघु के पश्चात् एक गुरु होता है। १४ और १२ पर यति। जैसे :—

नाथ के तीखे वचन उर में लगे जब तीर से
दास तब निज नेत्र को भरने न देना नीर से

**सरसी**—इसके प्रत्येक चरण में २७ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक गुरु के पश्चात् एक लघु अवश्य होता है। जैसे :—

"रूप नहीं हूँ और नहीं मैं क्षण-क्षण का शृंगार
मैं अनन्त साधना तुम्हारी" प्रिय की हुई पुकार
एक साधना ही है जिसका शारदीय अवतार
आया शरद सजाने मेरी पृथ्वी का आकार

**विधाता ( शुद्धगामी )**—इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती है। यति १४।१४ पर होती है। इसकी पहली, आठवीं और पन्द्रहवीं मात्राएँ बराबर लघु हुआ करती हैं। जैसे :—

कड़ी आराधना करके बुलाया था उन्हें मैंने।
पदों को पूजने के ही लिए थी साधना मेरी॥
तपस्या नेम व्रत करके रिझाया था उन्हें मैंने।
पधारे देव, पूरी हो गई आराधना मेरी॥

**हरिगीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं। आरम्भ से १६ और १२ मात्राओं पर यति होती है और अन्त में एक लघु के पश्चात् एक गुरु होता है। जैसे :—

निद्रित-दशा में सृष्टि सारी पा रही विश्राम है
निस्तब्ध निश्चल प्रकृति की शोभा परम अभिराम है
भूषण सदृश्य उडुगण हुए, मुख-चन्द्र-शोभा छा रही।
विम्बलाम्बरा रजनी-वधू अभिसारिका-सी जा रही॥

आरम्भ से १२ या १० मात्राओं पर यति होती है और अन्त में दो गु होते हैं। जैसे :—

सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई
विहँसत मुख मन्द-मन्द सुन्दर सुखदाई
कीरति ब्रह्माण्ड खंड तीन लोक छाई
हरखि निरखि तुलसिदास चरननि रज पाई

लावनी—इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ होती हैं। आरंभ से दूसरी तथा बारहवीं मात्रा के पश्चात् यति होती है। जैसे :—

मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ
अपने जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिसको छूकर
उस हृतंत्री के तार लिये फिरता हूँ।

अथवा—

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया
अयि राजहंसि तू तरस-तरस क्यों रोती
यदि मुक्ति वंचिता कहीं मैथिली होती
तो श्यामल तनु के श्रमज बिन्दुमय मोती
निज व्यजन पक्ष से तू अकोर सुख खोती
जिन पर मानस ने पद्म रूप मुँह बाया
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया

रोला—इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ और आरम्भ से ११ या १३ मात्राओं के पश्चात यति होती है। जैसे :—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन!
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!
संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन!

**गीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक लघु के पश्चात् एक गुरु होता है। १४ और १२ पर यति। जैसे :—

नाथ के तीखे वचन उर में लगे जब तीर से
दास तब निज नेत्र को भरने न देना नीर से

**सरसी**—इसके प्रत्येक चरण में २७ मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक गुरु के पश्चात् एक लघु अवश्य होता है। जैसे :—

"रूप नहीं हूँ और नहीं मैं क्षण-क्षण का शृंगार
मैं अनन्त साधना तुम्हारी" प्रिय की हुई पुकार
एक साधना ही है जिसका शारदीय अवतार
आया शरद सजाने मेरी पृथ्वी का आकार

**विधाता ( शुद्धगामी )**—इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती है। यति १४।१४ पर होती है। इसकी पहली, आठवीं और पन्द्रहवीं मात्राएँ बराबर लघु हुआ करती हैं। जैसे :—

कड़ी आराधना करके बुलाया था उन्हें मैंने।
पदों को पूजने के ही लिए थी साधना मेरी॥
तपस्या नेम व्रत करके रिझाया था उन्हें मैंने।
पधारे देव, पूरी हो गई आराधना मेरी॥

**हरिगीतिका**—इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं। आरम्भ से १६ और १२ मात्राओं पर यति होती है और अन्त में एक लघु के पश्चात् एक गुरु होता है। जैसे :—

निद्रित-दशा में सृष्टि सारी पा रही विश्राम है
निस्तब्ध निश्चल प्रकृति की शोभा परम अभिराम है
भूषण सदृश्य उडुगण हुए, मुख-चन्द्र-शोभा छा रही।
विम्बलाम्बरा रजनी-बधू अभिसारिका-सी जा रही॥

गुरु के पश्चात् एक लघु रखना श्रेयस्कर है। आरम्भ से आठवीं और सोलहवीं मात्राओं पर यति होती है। जैसे—

मुझे चाहिए अब जन-जन के जीवन में ही नव मधुमास।
जन जीवन से आज चाहता हूँ पाना जीवन उल्लास॥
तुम मुझको दोगे जीवन की ज्वाला का जाज्वल्य प्रकाश।

त्रिभंगी—इस छन्द के प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ होती हैं। अन्तिम अक्षर गुरु होता है। आरम्भ से १० वीं, १८ वीं और २६ वीं मात्राओं पर यति होती है। जैसे—

जिमि जिमि दिन राऊ अधिक प्रभाऊ बढ़ि अकास में प्रकट कियो।
तिमि तिमि बलधारी तेज अगारी सबही को हठ कष्ट दियो।
इति भूमि केइ पावत लखि दल धावत सघन धूरि उड़ि व्योम चलो।
अति घाम घनेरो लखि रवि केरो कीन्ह मनो तेहि छाँह भलो।

## अर्द्धसम

दोहा—प्रथम और तृतीय चरणों में तेरह तथा द्वितीय और चतुर्थ में ११ मात्राएँ होती हैं। प्रथम और तृतीय चरणों के आदि में जगण वर्जित है। जैसे—

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठ पट ज्योति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष सम होति॥

सोरठा—यह दोहा के ठीक विपरीत है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में ग्यारह मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ में तेरह मात्राएँ होती हैं। जैसे—

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सु दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन॥

बरवै—इसके प्रथम और तृतीय चरणों में १२ तथा द्वितीय और चतुर्थ में ७ मात्राएँ होती हैं। अन्त में जगण होना चाहिए।

अवधि शिला का उर पर, था गुरु भार
तिल तिल काट रही थी, दृग जल धार

कह गिरिधर कविराय, बड़न की बड़ी बड़ाई
थोरे ही यश होय, यशी पुरखन की साँई

छप्पय—छप्पय के छः चरण होते हैं। प्रथम चार चरण रोला के होते हैं और पिछले दो चरण उल्लाला के। जैसे—

प्रभो! पाप का पुञ्ज
कलह का कुञ्ज दूर हो।
अपनी तज उत्साह,
और सद्धर्म दूर हो।
रहे न निर्धन दीन
न भारत विषय चूर हो।
रहे सदा निर्भीक,
यशी रणवीर शूर हो।
हे विश्वंभर, घर-घर यहाँ
श्रुतियों के उच्चार हो
उद्धार धर्म का हम करें
सच्चे आचार्य कुमार हों।

## स्वर छन्द

स्वर छन्द वह विषम छन्द है जिसमें मात्रिक प्रतिबन्ध नहीं है। इसमें नाद सौंदर्य्य द्वारा संगीत का सृजन होता है। जैसे—

जन भारत है।
भारत है!
स्वर्ग स्तंभवत गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत् है,
जन भारत है,
जाग्रत भारत है।

कह गिरिधर कविराय, बड़न की बड़ी बड़ाई
थोरे ही यश होय, यशी पुरखन की सोई

छप्पय—छप्पय के छः चरण होते हैं। प्रथम चार चरण रोला के होते हैं और पिछले दो चरण उल्लाला के। जैसे—

प्रभो! पाप का पुञ्ज
कलह का कुञ्ज दूर हो।
अपनी तज उत्साह,
और सद्धर्म दूर हो।
रहे न निर्धन दीन
न भारत विषय चूर हो।
रहे सदा निर्भीक,
यशी रणवीर शूर हों।
हे विश्वंभर, घर-घर यहाँ
श्रुतियों के उच्चार हों,
उद्धार धर्म का हम करें
सच्चे आचार्य कुमार हों।

## स्वर छन्द

स्वर छन्द वह विषम छन्द है जिसमें मात्रिक प्रतिबन्ध नहीं है। इसमें नाद सौंदर्य्य द्वारा संगीत का सृजन होता है। जैसे—

जन भारत हे।
भारत हे!
स्वर्ग स्तंभवत गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत् हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे